प्राप्तिस्थान —

जैन-शास्त्रमालाकार्यालय,

जैन उपाश्रय लुधियाना

मुद्रक —

दी सेंट्रल अलैक्ट्रिक प्रेस गोकुल रोड लुधियाना में

मास्टर लच्छूराम धवन के प्रबन्ध में छपी।

प्राक्कथन

पदार्थों के ज्ञान के लिए और उन का सम्यग्बोध करने के लिए आगमों मे प्रमाण और नय ये दो मार्ग प्रतिपादन किए गए हैं। प्रमाण सर्वांशग्राही होता है। और नय, पदार्थ के देश धर्म को ग्रहण कर उसका वर्णन करता है वर्तमान युग मे न्याय को दो शैलियां प्रचलित है, जैसे—प्राचीन न्याय, और नव्यन्याय। प्राचीन न्याय शब्दाडम्बर को छोड कर अर्थावबोधविशेष रहता है और नव्यन्याय मे अर्थावबोध की अपेक्षा शब्दाडम्बर।

जैन, बौद्ध तथा वैदिक आचार्यों ने न्याय शास्त्र के बहुत से ग्रन्थ निर्माण किए हैं और उन पर टीका टिप्पण भी यथा बुद्धि किए है जो आज कल पाठशालाओं के पाठ्य क्रम मे नियुक्त भी है। अस्तु, इस जटिल तथा दुरूह विषय के सम्बन्ध मे मेरा य बहुत दिनों से यह विचार था कि जो विद्यार्थी न्यायकक्षा मे न्याय अध्ययन कर रहे है

या कर चुके हैं उन को प्राचीन आगमों में वर्णन किए हुए प्रमाण और नय—वाद का ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है। एतदर्थ इस लघु पुस्तिका में अनुयोगद्वार सूत्र, नन्दीसूत्र, ठाणांग सूत्र, भगवतीसूत्र, प्रज्ञापन सूत्र, तथा उत्तराध्ययन सूत्र, आदि जैनागमों से प्रमाण और नय तथा आत्मवाद आदि विषय स्वाध्याय शील विद्वानों के अवलोकन के लिए संक्षिप्त रूप से संग्रह किए गए हैं। जिन को विशेषप्रमाण और नय-वाद आदि विषयों को देखने का अभिलाषा होवे जैनागमों का सप्रेम स्वाध्याय कर और यथोचित लाभ उठाएं।

इस पुस्तिका मे प्राचीन टीकाओं के साथ साथ आगम पाठ का भी संग्रह किया गया है आशा है विद्वान् लोग इस पुस्तक को पढ़ कर मेरे परिश्रम को सफल करेंगे। अलंविद्वत्सु।

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा
सं० २००६
जैन उपाश्रय
लुधियाना

आचार्य—
आत्माराम

दो शब्द

जैन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्य आचार्य श्री आत्मा राम जी महाराज वे विशेष सहवास से मुझे भी जैनागमों के देखने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। पूज्य श्री जी की कर लेखनी से जैन जगत् तथा जैनेतर विद्वज्जन सुपरिचित ही है। मैंने आचार्य श्री जी द्वारा प्रकाशित अनेकों ग्रन्थ पढ़े, जो साधारण तथा असाधारण जनता के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। मेरी आरम्भ से ही पूज्य श्री जो से सानुरोध प्रार्थना रही है कि जैनागमों मे इतस्तत विखरे हुए न्याय- शास्त्र सम्बन्धित पाठों का एक पुस्तक के आकार मे प्रकाशन होना अत्यावश्यक है।

हर्ष का विषय है कि पूज्य श्री जी ने मेरी इस प्रार्थना को साकार रूप देकर मुझ पर ही नहीं किन्तु न्याय-शास्त्र के जिज्ञासुओं पर महान् उपकार किया है।

प्रूफ आदि सशोधन कार्य—भार अपने ऊपर लेकर इस पुस्तक के मूर्त्तरूप देने मे जैन मुनि रत्नचन्द्र जी महाराज तथा प्रकाण्ड पण्डित शान्त मुद्रा प० श्री हेमचन्द्र जी महाराज के सुशिष्य मुनि श्री स्वरूपचन्द्र जी महाराज और कान्ति मुनि जी ने अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसके लिए इन तीनों मुनिजनों का विशेष धन्यवाद।

निवेदक —

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा

स० २००६

झण्डूलाल शास्त्री

जैन उपाश्रय

लुधियाना

धन्यवाद

जालन्धर (छावनी) निवासी श्रीमान् लाला तेलूराम जी जैन समाज के मान्य व्यक्तियों मे से एक है आरम्भ से ही आप सामाजिक सत्कार्यों मे अपने द्रविण का सदुपयोग करते आये हैं। आप के अन्तरतल मे धार्मिक भावना सदैव जागृत रही है और उन्हीं सद् भावनाओ से प्रेरित हो आप ने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं, प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन भार भी गणावच्छेदक श्री १००८ श्री रघुवरदयाल जो महाराज की सत्प्रेरणा से आप ने अपने ऊपर लिया है। अत' मैं "जैनशास्त्रमालाकार्यालय" लुधियाना को ओर से सेठ तेलूराम जी जैन रईस जालन्धर छावनो का शतशः धन्यवाद करता हूं।

आशा है, अन्य धनो महानुभाव भी लाला जो का अनुकरण करते हुए अपने धन का सदुपयोग करेंगे।

नोट .—यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ, सशोधन आदि मे अति सावधानी रखी गई है, फिर भी यदि दृष्टिदोष से कोई अशुद्धि रह गई हो, तो पाठक महानुभाव सुधार कर पढे।

आपका—

मन्त्री, जैनशास्त्रमालाकार्यालय

लुधियाना।

समर्पितम्

यह 'लघु निबन्ध' स्वर्गीय श्री श्री १००८ गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज के कर कमलों मे समर्पण किया जाता है। आप की प्रथम ही यह उत्कृष्ट भावना थी कि जैनागमों मे निर्दिष्ट प्रमाण और नय-वाद आदि का बोध न्याय शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक है।

अत मैं उसी भावना से प्रभावित होकर यह शास्त्रीय निबन्ध आप श्री जी की सेवा मे समर्पित कर के हर्षातिरेक का अनुभव कर रहा हू।

भवदीय —

आचार्य जैन मुनि, आत्माराम

णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

जैनागमन्यायसंग्रहः

अथ भावप्रमाणमभिधित्सुराह—

मूल—से किं त भावप्पमाणे ?, २ तिविहे पण्णत्ते, तंजहा-गुणप्पमाणे नयप्पमाणे संखप्पमाणे (सू० १४३) से किं तं गुणप्पमाणे ?, २ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—जीव गुणप्पमाणे अजीवगुणप्पमाणे अ ।

से किं तं अजीवगुणप्पमाणे ?, २ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—वण्णगुणप्पमाणे गंधगुणप्पमाणे रसगुणप्पमाणे फासगुणप्पमाणे संठाणगुणप्पमाणे, से किं तं वण्ण—गुणप्पमाणे ?, २ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—कालवण्ण-गुणप्पमाणे जाव सुक्किल्लवण्णगुणप्पमाणे, से त वण्णगुणप्प-माणे । से किं तं गंधगुणप्पमाणे ?, २ दुविहे पण्णत्ते, तजहा—सुरभिगंधगुणप्पमाणे दुरभिगंधगुणप्पमाणे, से तं गंधगुणप्प-माणे । से किं तं रसगुणप्पमाणे ?, २ पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा-तित्तरसगुणप्पमाणे जाव महुररसगुणप्पमाणे, से तं रसगुणप्पमाणे ।

से कि तं फासगुणप्पमाणे ?, २ अट्ठविहे पण्णत्ते, तंजहा—कक्खडफासगुणप्पमाणे जाव लुक्खफासगुणप्पमाणे से तं फासगुणप्पमाणे। से किं तं संठाणगुणप्पमाणे ?, २ पंचविहेपण्णत्ते, तंजहा—परिमंडलसंठाणगुणप्पमाणे वट्टसं० तंस० चउरंस० आययसंठाणगुणप्पमाणे, से त संठाणगुणप्पमाणे, से तं अजीवगुणप्पमाणे।

टीका :—भवनंभावो—वस्तुनःपरिणामो ज्ञानादिर्वर्णादिश्च, प्रमितिः प्रमीयते अनेन प्रमीयते स इति वा प्रमाणं, भाव एव प्रमाणं भाव प्रमाणं, भावसाधनपक्षे प्रमितिः—वस्तुपरिच्छेदस्तद्धेतुत्वाद् भावस्य प्रमाणताऽवसेया, तच्च भावप्रमाणंत्रिविधप्रज्ञप्तं, तद्यथा—गुणप्रमाणं, मित्यादि, गुणो—ज्ञानादिः स एव प्रमाणं गुणप्रमाणं, प्रमीयते च गुणैर्द्रव्यं, गुणाश्च गुणरूपतया प्रमीयन्तेऽतः प्रमाणता, तथानीतयो नया—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तयः त एव प्रमाणं नयप्रमाणं, सङ्ख्यानं संख्या सैवप्रमाणं संख्याप्रमाणं, नयसंख्ये अपि गुणत्वं न व्यभिचरतः, केवलं गुणप्रमाणात् पृथगभिधाने कारणमुपरिष्टाद्वक्ष्यते, तत्रगुणप्रमाणं द्विधा जीवगुणप्रमाणं च अजीवगुणप्रमाणं च तत्राल्पवक्तव्यत्वादजीवगुणप्रमाणमेव तावदाह—'से किं तं अजीवगुणप्पमाणे, त्य ि, एतत्सर्वमपि पाठसिद्धं', नवरं परिमण्डलसंस्थानं वलयादिवत्, वृत्तमयोगोलकवत्, त्र्यस्रं—त्रिकोणं, शृङ्गाटकफलवत्, चतुरस्रं—समचतुष्कोणम्, आयतं—दीर्घमिति।

मूल —से किं तं जीवगुणप्पमाणे?, २ तिविहे पएणत्ते, तंजहा-णाणगुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे। से किं तं णाणगुणप्पमाणे?, २ चउव्विहे पएणत्ते, तंजहा-पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे। से किं तं पच्चक्खे?, २ दुविहे पएणते, तंजहा-इंदिअपच्चक्खे अ णोइंदिअपच्चक्खे अ। से कि तं इंदिअपच्चक्खे? पंचविहेपएणत्ते, तंचहा-सोइंदिअपच्चक्खे चक्खुरिंदियपच्चक्खे घाणिंदिअपच्चक्खे जिब्भिंदिअपच्चक्खे फासिंदिअपच्चक्खे, से तं इंदियपच्चक्खे। से किं तं णोइंदियपच्चक्खे?, २ तिविहे पएणत्ते, तंजहा-ओहिणाणपच्चक्खे मणपज्जवनाणपच्चक्खे केवलणाण-पच्चक्खे, से तं णोइंदियपच्चक्खे, से तं पच्चक्खे।

टीका :—जीवस्य गुणाः—ज्ञानादयस्तद्रूपंप्रमाण जीवगुणप्रमाणं तच्च ज्ञानदर्शनचारित्रगुणभेदात्त्रिधा, तत्र ज्ञानरूपो यो गुणस्तद्रूपं प्रमाण चतुर्विधं, तद्यथा- प्रत्यक्ष-मनुमानमुपानमागमः, तत्र 'अशू व्याप्तां' वित्यस्य धातोरश्नुते--ज्ञानात्मना अर्थान् व्याप्नोतीति अक्षो जीव, 'अश-भोजने' इत्यस्य वा अश्नाति-भुङ्क्ते पालयति वा सर्वार्थानित्यक्षो-जोव एव प्रतिगतम्-आश्रितमक्षप्रत्यक्षमिति, अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये (का० रु० ४३०) तिसमास, जीवस्यार्थसाक्षात्कारित्वेन यद् ज्ञानंवर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः, अन्ये त्वक्षमक्षं प्रतिवर्तत इत्यव्ययीभावसमास विदधति, तच्च न युज्यते, अव्ययीभावस्य नपुंसकलिङ्गत्वान्, प्रत्यक्षशब्दस्य

त्रिलिङ्गता न स्यात्, दृश्यते चेयं, प्रत्यक्षा बुद्धिः प्रत्यक्षो बोधः प्रत्यक्षं ज्ञानमिति दर्शनात्, ततो यथादर्शितस्तत्पुरुष एवायं, तच्च प्रत्यक्षं द्विविध-इन्द्रियप्रत्यक्षं नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च, अत्रेन्द्रियं-श्रोत्रादि तन्निमित्तं-सहकारिकारणं यस्योत्पित्सोस्तदलिङ्गिकं शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्, इदचेन्द्रलक्षणजीवात् परं व्यतिरिक्तनिमित्तमाश्रित्योत्पद्यते इति धूमादाग्निज्ञानमिव वस्तुतोऽर्थसाक्षात्कारित्वाभावात् परोक्षमेव, केवल लोकेऽस्य प्रत्यक्षतया रूढत्वात् सव्यवहारतोऽत्रापि-तथोच्यत इत्यलंविस्तरेण, तदाकाङ्क्षिणा तु नन्द्यध्ययनमन्वेषणीयम्। इन्द्रिय प्रत्यक्षं तु यन्न भवति तन्नोइन्द्रियप्रत्यक्ष, नो शब्दस्यसर्वनिपेधपरत्वात् यत्रेन्द्रिय सर्वथैव न प्रवर्तते किन्तु जीव एव साक्षादर्थं पश्यति तन्नोइन्द्रियप्रत्यक्षं-अवधिमन पर्यायकेवलाख्यमिति भावार्थः।

मूल :—से किं तं अणुमाणे ? २ तिविहे पण्णत्ते, तंजहा-पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मवं। से किं तं पुव्ववं ? २ माया पुत्तं जहा नट्ठं, जुवाणं पुणरागयं। काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिङ्गेण केणई ॥ ११५ ॥ तंजहा—खत्तेण वा वण्णेण वा लछणेण वा मसेण वा तिलएण वा, से तं पुव्ववं। से किं त सेसवं ?, २ पंचविहंपण्णत्तं, तंजहा—कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं। से किं तं कज्जेणं ?, संखं सद्देणं भेरिं ताडिएणं वसभं ढक्किएणं मोरं किंकाइएणं हयं हेसिएणं गयं गुलगुलाइएणं रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं। से

कि तं कारणेणं ?, २ तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं मिप्पिंडो वडस्स कारणं ण वडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं । से कि तं गुणेणं?, २ सुवण्णं निकसेणं पुष्फ गंधेणं लवणं रसेणं मइ्रं आसायएणं वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं। से कि तं अवयवेणं?, २ महिसं सिंगेणं कुक्कुडंसिहाएणं हत्थिं विसाणेणं वराहं दाढाए मोरं पिच्छेणं आसं खुरेणं वग्घंनहेणचमरिं वालग्गेणं वाणरं लंगुलेण दुपयं मणुस्सादि चउपयं गवमादि बहुपयं गोमि आदि सीहं केसरेणं वसहं कुक्कुहेणं महिलं वलयबाहए, गाहा— परिअरबंधेण भडं जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं । सित्थेण दोणपागं कविं च एक्काए गाहाए ॥ ११६ ॥

से तं अवयवेणं । से कि तं आसएणं ?, २ अग्गिं धूमेणं सलिलं बलागेणं वुट्ठिं अब्भविकारेणं कुलपुत्तं सीलसमायारेणं [इंङ्गिताकारितैर्ज्ञेयैः, क्रियाभिर्भाषितेन च । नेत्र वक्त्र विकारैश्च-गृह्यतेऽन्तर्गतंमनः ॥ १ ॥] से तं आसएणं । से तं सेसवं ।

टीका :——अनु-लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चान्मीयते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति अनुमानं, तच्चत्रिविध पूर्ववत् शेषवत् दृष्टसाधर्म्यवच्चेति । से किं तं पुव्ववं मित्यादि, विशिष्ट पूर्वोपलब्धं चिन्हमिह पूर्वमुच्यते,

तदेव निमित्तरूपतया यस्यानुमानस्यास्ति तत्पूर्ववत्, तद्द्वारेण गमकमनुमान पूर्ववदिति भावः । तथा चाह 'माता पुत्र' मित्यादिश्लोक; यथा माता स्वकीय पुत्र बाल्यावस्थायां नष्टं युवानं सन्तं कालान्तरेण पुनः कथमप्यागतं काचित्तथाविधस्मृतिपाटववती, न सर्वा, पूर्वदृष्टेन लिङ्गेन केनचित् क्षतादिना प्रत्यभिजानीयात्—मत्पुत्रोऽयमिति अनुमिनुयादित्यर्थः, केनपुनर्लिङ्गेनेत्याह—'क्षतेन वे' त्यादि, स्वदेहोद्भवमेव क्षत, आगन्तुकस्तु श्वदंष्ट्रादिकृतो व्रण लाञ्छनमपतिलकास्तु प्रतीता., तदयमत्र प्रयोगो--मत् पुत्रोऽयम्, अनन्यसाधारणक्षतादिलक्षणविशिष्टलिङ्गोपलब्धेरिति, साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तयो. सत्त्वेतराभावादयमहेतुरिति चेत्, नैव, हेतो परमार्थेनैकलक्षणत्वात. तद्बलेनैव गमकत्वोपलब्धे, उक्तं च न्यायवादिना पूर्णचन्द्रेण—" अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतो. स्वलक्षणम् । सत्वासत्वे हितद्धर्मौ, दृष्टान्तद्वयलक्षणे ॥ १ ॥ तद्धर्माविति—अन्यथाऽनुपन्नत्वधर्मौ, कथम्भूते सत्वासत्वे इत्याह—साधर्म्यवैधर्म्यरूपे दृष्टांतद्वये लक्ष्यते—निर्णीयते [अथ यदि] दृष्टातद्वय लक्षणेन च धर्मिसत्ताया धर्मा सर्वेऽपि सर्वदा भवन्त्येव, पटादे शुक्लत्वादिधर्मैर्व्य (र्ध्य) भिचारात, ततो दृष्टांतयो सत्वासत्वधर्मौ यद्यपि क्वचिद्धेतौ न दृश्येते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथानुपपन्नत्व भविष्यतीति न कश्चिद्विरोध इति भावः । यत्रापि धूमादौ दृष्टांतयोः सत्वासत्वे हेतोर्दृश्येते तत्रापि साध्यान्यथानुपपन्नत्वस्यैव प्राधान्यात्तस्यैवैकस्य हेतुलक्षणता ऽवसेया, तथा चाह—"धूमादेर्यद्यपि स्याता, सत्वासत्वे स्वलक्षणे । अन्यथानुपपन्नत्वप्राधान्याल्लक्षणैकता ॥१॥ किंच यदि दृष्टान्ते सत्वासत्वदर्शनाद्धेतुर्गमक इष्यते तदालोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात्, अभ्यधायिच-

"दृष्टान्ते सदसत्वाभ्यां, हेतु सम्यग् यदीष्यते । लोहलेख्यंभवेद्वज्रं, पार्थिवत्वाद् द्रुमादिवद्" ॥२॥ इति । यदि च—पक्षधर्मत्वसपक्षसत्वावि- पक्षासत्वलक्षणंहेतोस्त्रैरूप्यमभ्युपगम्यापियथोक्तदोषभयात् साध्येन सहान्यथानुपपन्नत्वमन्वेषणीय तर्हि तदेवैक लक्षणतयावक्तुमुचित- त्रिरूपत्रेयणेति, आहच-"अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण कि ? । नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥" इत्यादि, अत्रबहुवक्तव्य तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात , अन्यत्र यत्नेनोक्तत्वाच्चेति । आह- प्रयत्क्षविषयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता, नैव, पुरुषपिण्डमात्रप्रत्यक्षता- यामपिमत्पुत्रो न वेति सन्देहाद्युक्त एवानुमानोपन्यास इति कृत प्रसङ्गेन । 'से किं तं सेसव' मित्यादि, पुरुषार्थोपयोगिन.परिजिज्ञासितात्तुरगादे- रथादन्यो हेषितादिरर्थ शेष इहोच्यते, सगमकत्वेन यस्यास्ति तच्छेषवद- नुमानं, तच्च पचविधं, तद्यथा,—कार्येणेत्यादि, तत्र कार्येणकारणानुमानं यथा—हयम्—अश्वं हेषितेन अनुमिनुते इत्यध्याहार, हेषितस्य तत्कार्यत्वात्, तदाकर्ण्य हयोऽत्रेति या प्रतीतिरुत्पद्यते तदिह कार्येण—कार्यद्वारेणोत्पन्न शेषवदनुमानमुच्यते इति भाव, क्वचित्तु प्रथमत शख शब्देनेत्यादि दृश्यते तत्रोक्तानुसारत सर्वोदाहरणेषु भावना कार्या । 'से किं त कारणेण' मित्यादि, इह कारणेनकार्यमनुमीयते, यथा विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनात कश्चित् वृष्ट्यनुमानं करोति, यदाह— "रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विष । वृष्टिं व्यभिचरन्तीह, नैव प्राया पयोमुच. ॥ १ ॥" इति एव चन्द्रोदयाज्जलधेर्वृद्धिरनुमीयते कुमुद विकाशश्च, मित्रोदयाज्जलरुहप्रबोधोघूकमदमोक्षश्च, तथाविधवर्षणात् सस्यनिष्पत्तिः—कृषिबलमन प्रमोदश्चेत्यादि, तदेव कारणमेवेत्यनुमा।

साध्यस्यनाकारणं, तत्र कार्यकारणभाव एव केषांचिद् विप्रतिपत्तिं पर्य्यन्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह—तन्तव पटस्य कारणं नतु पटस्तन्तूनां कारणम् पूर्वमनुपलब्धस्य तस्यैवतद्भावेऽउपलम्भाद्, इतरेषांतु पटाभावेऽप्युपलम्भाद् अत्राह— ननुयदा कश्चिन्निपुणः पटभावेन सयुक्तानपि तन्तून् क्रमेणवियोजयति तदा पटोऽपि तन्तूनां कारणं भवत्येव, नैवं,—सत्वेनोपयोगाभावात्, यदेवहि लब्धसत्ताकं—सत्पूर्व्वास्थातभावेन कार्यमुपकुरुते तदेव तस्य कारण-त्वेनोपदिश्यते, यथा मृत्पिण्डोघटस्य, ये तु तन्तुवियोगतोऽभावीभवता पटेन तन्तवः समुत्प—द्यन्ते तेषां कथं पटः कारणं निर्दिश्यते,नहिज्वराभावेन भवत आरोगिता-गुणस्य ज्वरः कारणमिति शक्यते वक्तु, अथेवं पटेऽप्युपद्यमाने तन्तवोऽभावी भवन्तीति तेऽपि तत्कारणं न स्युरिति चेत, नैवं, तन्तु-परिणामरूप एवहि पटो यदि च तन्तवः सर्वथाऽभावी भवेयुस्तदा मृदभावे घटस्येव पटस्य सर्वथैवापलब्धिर्न स्यात्, तस्मात् पटकालेऽपि तन्तवः सन्तीति सत्त्वेनोपयोगात्ते पटस्य कारणमुच्यन्ते, पटवियोजनकाले त्वेकरूतत्त्ववस्थाया पटो नोपलभ्यते अतस्तत्र सत्वेनोपयोगाभावान्नासौ-तेषां कारणं, एवं वीरणकटादिष्वपि भावना कार्या, तदेवं यद्यस्य कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथा ममभव गमकत्वेन वक्तव्यतमिति । 'से किं तं गुणेणं' मित्यादि, निकषः—कषणपट्टगतार्कपितसुवर्णरेखा तेन सुवर्णमनुमीयते, यथा पञ्चदशादिवर्णकोपेतमिदं सुवर्णं, तथाविधनिकषो-पलम्भात्, पूर्वोपलब्धोभयसम्मतसुवर्णवत्, एवं शतपत्रिकादि पुष्पमत्र, तथा विधगन्धोपलम्भात्, पूर्वोपलब्धवस्तुवत्, एवं लवणमदिरावस्त्रादयो-ऽनेकभेदसम्भवतोऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियत तथाविध रसास्वादस्पर्श-

द्विगुणोपलब्धे' प्रतिनियतस्वरूपा सावयितव्याः । 'से किं त अवयवेण' मित्यादि, अवयवदर्शनेनावयवी अनुमीयते, यथा महिष, अत्र तदविनाभूतशृङ्गोपलब्धे, पूर्वोपलब्धोभयसम्मतप्रदेशवत्, अयंचप्रयोगो-वृत्तिवरण्डकाद्यन्तरितत्वादप्रत्यक्ष एवावयविनि द्रष्टव्य, तत्प्रत्यक्षतायाम-ध्यक्षत एव तत् सिद्धेरनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति एव शेषोदाहरणान्यपि भावनीयानि, नवर द्विपदमनुष्यादीत्यादि, मनुष्योऽयंतदविना भूतपद द्वयोपलंभात्, पूर्वदृष्टमनुष्यवत् एव चतुष्पदबहुपदेष्वपि, 'गोम्ही' कर्णशृगाली, 'परियरबंधेणभड' मित्यादि, गाथा पूर्व व्याख्यातैव, तदनुसारेणभावर्थोऽप्यूह्य इति, । 'से किं तं 'आसएण' मित्यादि, आश्रयतीत्याश्रायो-धूमवलाकादि', तत्र धूमादग्न्यनुमान वलाकादेस्तु जला-द्यनुमानंप्रतीतमेव, आकारेङ्गितादिभिश्च पूर्वव्याख्यातस्वरूपैर्देवदत्ताद्या-श्रितैस्तदन्तर्गतमनोऽनुमानसुप्रसिद्धमेव, अत्राह—ननु-धूमस्याग्निकार्य त्वात्पूर्वोक्तकार्यानुमानएव गतत्वात् किमिहोपन्यास. ?, सत्यं, किन्त्वग्न्या-श्रयत्वेनापि लोके तस्यरुढत्वादत्राप्युपन्यासः कृत इत्यदोष, तदेतत् शेषवदनुमानम् ।

मूलः—से कि तं दिट्ठ साहम्मवं ?, २ दुविहं पएणत्तं, तं जहा सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च । से कि तं सामएण-दिट्ठं ?, २ जहा एगो पुरिसो तहा वहवे पुरिसा जहा वहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो जहा एगो करिसावणो तहा वहवे करिसावणा, जहा वहवे करिसावणा-तहा एगो करिसावणो, से तं

सामण्णदिट्ठं । से किं तं विसेसदिट्ठं ?, २ से जहाणामए केई पुरिसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणमज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणेज्जा-अयं से पुरिसे बहूणं करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा अयं से करिसावणे । तस्स समासओ तिविहं गहणं भवइ, तं जहा—अतीयकालगहणं पडुप्पण्णकालगहणं अणागय कालगहणं । से किं तं अतीय कालगहणं ?, २ उत्तणाणि वणाणि निप्फण्ण सस्सं वा मेइणिं पुण्णाणि अ कुण्डसरणई दीहिआतडागाइं पासित्ता तेण साहिज्जइ जहा—सुवुट्ठी आसी, से तं अतीय कालगहणं । से किं तं पडुपण्णकालगहणं ?, २ साहुं गोअरग्गयं विच्छड्डिअपउरभत्तपाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुभिक्खे वट्टइ, से तं पडुप्पण्ण काल गहणं । से किं तं अणागयकाल गहणं ?, २ अब्भस्स निम्मलत्तं कसिणा य गिरी सविज्जुआ मेहा । थणियं वा उब्भामो संज्झा रत्ता पणिट्ठा (द्धा) य ॥ ११७ ॥ वारुणं वा महिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—सुवुट्ठी भविस्सइ, से तं—अणागयकालगहणं । एएसिं चेव विवज्जासे तिविहं—गहणं भवइ, तं जहा—अतीयकाल गहणं पडुप्पण्ण कालगहणं अणागयकाल गहणं । से किं तं अतीयकालगहणं ?, नित्तिणाइं

वणाइं अनिप्फएणमस्सं वा मेइणीं सुक्काणि अ कुंडसरण– ईदीहिअतडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा–कुवुट्ठी आसी, से तं अतीयकालगहणं । से कि तं पडुप्पएणकालगहणं ?, २ साहुँ गोअग्गगयं भिक्खं अलभमाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा–दुब्भिक्खेवट्टइ, से तं पडुप्पएण काल गहणं । से कि तं अणागयकालगहणं ?, धूमायंतिदिसाओ मं (?) विअमेडणी अपडिवद्धा । वाया नेरइआ खलु कुवुट्ठोमेवंनिवेयंति ॥ ११८ ॥ अग्गेयं वा वायव्वं वा अएणायरं वा अपसत्थं–उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा–कुवुट्ठीभविस्सइ, से तं अणागयकाल गहणं, से तं विसेसदिट्ठं, सेतं दिट्ठसाहम्मवं, से तं अणुमाणे ।

टीका :—दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनार्थेन सह साधर्म्यं दृष्टसाधर्म्यं, तद् गमकत्वेन विद्यते यत्र तद् दृष्टसाधर्म्यवत्, पूर्वदृष्टश्चार्थ कश्चिन् सामान्यत कश्चित्तु विशेषतो दृष्टःस्यात, अतस्तद्भेदादिदं द्विविध, सामान्यतो दृष्टार्थयोगात् सामान्यदृष्टं, विशेषतो दृष्टार्थयोगात् विशेषदृष्ट तत्र सामान्यदृष्ट यथा एकः पुरुषस्तथा वहव. पुरुषा इत्यादि, इदमुक्तं भवति–नालिकरेद्वीपादायात कश्चिन् तत्प्रथमतया सामान्यत एक कश्चन पुरुषं दृष्ट्वा ऽनुमान करोति यथा अयमेक परिदृश्यमान पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथ। वहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि पुरुषा एतदाकार– सम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषाद्, अन्याकारत्वे पुरुषत्वहानिप्रसङ्गात्, गवादिवत्, वहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो वीक्षितेष्वेवमनुमिनोति यथाऽसौ

परिदृश्यमाना पुरुषा एतदाकारवन्तः तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित् पुरुषः एतदाकारवानेव, पुरुषत्वात्, अपराकारत्वेतद्धानिप्रसङ्गात्, अश्वादिवदिति, एवकार्षापणादिष्वपिवाच्य, विशेषतो दृष्टमाह—' से जहानामए' इत्यादि, अत्र पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव, केवलं यदा कश्चित् कचिन्-कञ्चित् पुरुषविशेषं दृष्ट्वा तद्दर्शनाहितसंस्कारोऽसंजाततत्प्रमोषः समयान्तरे बहुपुरुषसमाजमध्ये तमेवपुरुषविशेषमासीनमुपलभ्यानुमानयति—य पूर्वंमयोपलब्धः स एवाय पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उभयाभिमत पुरुषवदिति, एतत्तदा विशेषदृष्टमनुमानमुच्यते, पुरुषविशेष-विषयत्वाद्, एवं कार्षापणादिष्वपि वाच्यं। तदेवमनुमानस्य त्रैविध्यमुप-दर्श्यसाम्प्रतं तस्यैव कालत्रयविषयतां दर्शयन्नाह—' तस्स समासओ तिविह गहणं' मित्यादि, तस्येतिसामान्येनानुवर्तमानमनुमानमात्र सम्बध्यते, तस्यानुमानस्य त्रिविध ग्रहणं भवति, तद्यथा—अतीतकालविषयं ग्रहणं—अतीतस्य वस्तुनः परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणं, प्रत्युत्पन्नो—वर्तमान कालस्तद्विषयं ग्रहणंप्रत्युत्पन्नकालग्रहणं,अनागतो—भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम्, कालत्रय वर्तिनोऽपि विषयस्यानुमानात्, परिच्छेदो भवतीत्यर्थः, तत्र 'उत्तिणाइं' ति उद्गतानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा, अयमत्र प्रयोगः—सुवृष्टि-रासीद्, उत्तृणवननिष्पन्नसस्य पृथ्वीतलजलपरिपूर्णकुण्डादिजलाशय प्रभृतितत्कार्यदर्शनात अभिमतदेशवदित्यतीतस्य वृष्टिलक्षण विषयस्य-परिच्छेदः, साधुं च 'गोचराग्रगतं' भिक्षाप्रविष्टं विशेषेण छर्दितानि—गृहस्थैर्दत्तानि प्रचुरभक्तपानानि यस्य स तथा त तादृशं दृष्ट्वा कश्चित् साधयति—सुभिक्षमिह वर्तते, साधूना तद्धेतुकप्रचुरभक्तपानलाभदर्शनात्,

पूर्वदृष्टप्रदेशवदिति । 'अब्भस्स निम्मलत्तं' गाहा सुगमा, नवरं स्तनितं—मेघगर्जितं 'वाउब्भामो' त्ति तथाविधो वृष्ट्यव्यभिचारी प्रदक्षिणं दक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वातः 'वारुण' ति आर्द्रामूलादिनक्षत्रप्रभव माहेन्द्ररोहिणीज्येष्ठादिनक्षत्रसम्भवं अन्यतरमुत्पातम् उल्कापातदिग्दाहादिकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणम् दृष्ट्वाऽनुमीयते, यथा—सुवृष्टिरत्रभविष्यति, तदव्यभिचारिणामभ्रनिर्मलत्वादीना समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनात् , यथाऽन्यदेति, विशिष्टा ह्यभ्रनिर्मलत्वादयो वृष्टिं न व्याभिचरन्त्यतः प्रतिपत्त्रैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति, 'एएसिंचेव विवज्जासे' इत्यादि, एतेषामेवोक्तृणवनादीनामतीतवृष्ट्यादिसाधकत्वेनोपन्यस्ताना हेतूनां व्यत्यासे—व्यत्यये साध्यस्यापि व्यत्यय. साधयितव्योः यथा कुवृष्टिरिहासीन्निस्तृणवनादिदर्शनादित्यादिव्यत्यय सूत्रसिद्धो नवरमनागतकालग्रहणे माहेन्द्रवारुणपरिहारेणाग्नेयवायव्योत्पाता उपन्यस्ताः तेषां वृष्टिविघातकत्वादितरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति । 'से तं विसेसदिट्ठं, से तं दिट्ठसाहम्मव' मित्येतन्निगमनद्वयं दृष्टसाधर्म्यलक्षणानुमानगतभेदत्र (द्व) यस्य समर्थनानन्तरं युज्यते, यदि तु सर्ववाचनास्वत्रैव स्थाने दृश्यते, तदादृष्टसाधर्म्यवतोऽपि सभदेस्यानुमानविशेषत्वात् , कालत्रयविषयता योजनीयैवातस्तामप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकारीति प्रतिपत्तव्यम् तदेतदनुमानयिति ।

अथोपमानमभिधित्सुराह—

मूल:—से किं तं ओवम्मे ? २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा साहम्मोवणीए अ वेहम्मोवणीए अ । से किं तं साहम्मोवणीए ?,

२ तिविहे पएणत्ते, तं जहा—किंचिसाहम्मोवणीए पायसाहम्मोवणीए सव्वसाहम्मोवणीयए। से किं तं किंचिसाहम्मोवणीए ?, २ जहा मंदरो तहा सरिसवो जहा सरिसवो तहा मंदरो जहा समुद्दो तहा गोप्पयं जहा गोप्पयं तहा समुद्दो जहा आइच्चो तहा खज्जोतो जहा खज्जोतो तहा आइच्चो, जहा चन्दो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चंदो, से तं किंचिसाहम्मो०। से किं तं पायसाहम्मोवणीए ?, २ जहा गो तहा गवओ जहा गवओ तहा गो, से तं पायसाहम्मो०। से किं तं सव्वसाहम्मोवणीए ? २ सव्वसाहम्मे ओवम्मे नत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं चक्कवट्टिणा चक्कवट्टिसरिसं कयं, बलदेवेण बलदेवसरिसं कयं, वासुदेवेणा वासुदेवसरिसं कयं साहुणा साहुसरिसं कयं से तं सव्वसाहम्मे, से तं साहम्मोवणीए। से किं तं वेहम्मोवणीए ?, २ तिविहे पएणत्ते, तं जहा—किंचिवेहम्मे पायवेहम्मे सव्ववेहम्मे। से किं तं किंचिवेहम्मे ? २ जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो, से तं किंचिवेहम्मे। से किं तं पायवेहम्मे ? जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो, से तं पायवेहम्मे। से किं तं सव्ववेहम्मे ?,

२ सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा णीएणं णीअसरिसं कय दासेण दाससरिसं कयं काकेण काकसरिसं कयं सारेण साणसरिसं कयं पाणेण पाणसरिसं कयं, से तं सव्ववेहम्मे। से तं वेहम्मोवणीए। से तं ओवम्मे।

टीका :—उपमीयते—सदृशतया वस्तु गृह्यते अनयेत्युपमा सैवो पम्यं, तच्च द्विविधं—साधर्म्येणोपनीतमुपनयो यत्र तत् साधर्म्यो-पनीत वैधर्म्येणोपनीतम्—उपनयो यत्र तद्वैधर्म्यम्योपनीतम् तत्र साध—र्म्योपनीतं त्रिविध—किञ्चित् साधर्म्यादि भेदात्, किंचित् साधर्म्यंच मदर सर्षपादीनां, तत्र मदर सर्षपयोर्द्वयोरपि मूर्तत्व सादृश्यं, समुद्र गोष्पदयो सोदकत्वमात्रम्, आदित्यखद्योतयोराकाशगमनोद्योतकत्वरूप, चन्द्रकुमुदयो शुक्लत्वमिति। 'से कि तं पायसाहम्मे' इत्यादि, खुरककुदविषाणलाङ्ग—लादेर्द्वयोरपि समानत्वात्, नवरं सकम्बलोगोवृत्तकण्ठस्तुगवय इति प्राय साधर्म्यता। सर्व साधर्म्यन्तु क्षेत्रकालादिभिर्भेदात् न कस्यापि केनचित् सार्द्ध संभवति, सम्भवेत्वेकता प्रसङ्ग तर्हि—उपमानस्य तृतीय—भेदोपन्यासोऽनर्थक एवेत्यशङ्क्याह—तथापि तस्य विवक्षितस्यार्हदादे—स्तेनैवअर्हदादिना औपम्य क्रियते, तद्यथा—'अर्हता अर्हत्सदृशकृतं' तत् किमपि सर्वोत्तमं तीर्थप्रवर्तनादि कार्यमर्हता कृतं यदर्हन्नेव करोति नापरः कश्चिदिति भाव., एवं च स एव तेनोपमीयते, लोकेऽपिहिकेनचिदत्यद्—भुते कार्ये कृते वक्तारो दृश्यन्ते—तत् किमपीद भवद्भि कृत यद्भवन्त एव कुर्वन्ति नान्य कश्चिदिति, एव चक्रवर्तिवासुदेवादिष्वपि वाच्यम् ' से किं

नं वेहम्मोवणीए' इत्यादि, यथेति—यादृशः शवलायाः गोरपत्यं शावलेयो न तादृशो वहुलाया अपत्यं बाहुलेयो, यथाचायं न तथेतरः, अत्रचशेष—धर्मैस्तुल्यत्वाद्भिन्ननिमित्तजन्मादिमात्रतस्तु—वैलक्षण्यात् किंचिद् वैधर्म्यं भावनीयम. 'से कि तं पायवेहम्मे' इत्यादि, अत्र वायसपायसयोः सचेतनत्वाचेतनत्वादिभिर्वहुभिर्धर्मैर्विसंवादात् अभिधानगतवर्णद्वयेन सत्वादि मात्रतश्च साम्यात्प्रायो वैधर्म्यता भावनीया. सर्ववैधर्म्यन्तु न कस्यचित् केनापि संभवति, सत्त्वप्रमेयत्वादिभि सर्वभावानां समानत्वात्. तैरप्य—समानत्वेऽसत्त्वप्रसङ्गात्, तथापि तृतीयभेदोपन्यास वैयर्थमाशंक्याह—तथापि तस्य तेनैवोपम्यक्रियते यथा नीचेन नीचसदृशं कृतं गुरुघातादि-इत्यादि. आह—नीचेन नीचसदृशं कृतमित्यादि ब्रुवता साधर्म्यमेवोक्तं स्यान्न वैधर्म्यं, सत्य, किन्तुनीचोऽपिप्रायो नैवं विध महा पापमाचरति किंपुनरनीचः:।, तत सकल जगद्विलक्षण प्रवृत्तत्वविवक्षया वैधर्म्यमिह भावनीयम्, एवं दासादृष्टान्ताहरणेष्वपिवाच्यम । 'से तं सव्ववेहम्मे' इत्यादि निगमनत्रयम्।

मूलः—से किं तं आगमे ?, २ दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-लोइए अ लोउत्तरिए अ। से किं तं लोइए ?, २ जण्णं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तंजहा—भारहं रामायणं जाव चत्तारि वेआ संगोवंगा, से तं लोइए आगमे। से किं लोउत्तरिए ?, २ जण्णं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहितीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं तिलुक्कवहियमहियपूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा—आयारो जाव दिट्ठि-

वाओ । अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे । अहवा—आगमे तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे, तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे, तेण परं सुत्तस्सवि अत्थस्सवि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे परंपरागमे, से त लोगुत्तरिए, से तं आगमे, से तं णाणगुणप्पमाणे ॥

टीका:—गुरुपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः, आ-समन्ताद् गम्यन्ते-ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति वा आगमः, अयं च द्विधा प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'लोइए' इत्यादि, इदं चेहैव पूर्वं भावश्रुतं विचारयता व्याख्यातं, यावत् से तं लोइए, से किं तं लोगुत्तरिए आगमेत्ति; 'अहवा आगमे तिविहे' इत्यादि, तत्र सूत्रमेव सूत्रागमः, तदभिधेयश्चार्थ एवार्थागमः, सूत्रार्थोभयरूपस्तु तदुभयागमः, अथवा अन्येन प्रकारेणागमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—आत्मागम इत्यादि, तत्र गुरूपदेशमन्तरेणात्मन एव आगम आत्मागमो, यथा—तीर्थङ्कराणामर्थस्यात्मागमः, स्वयमेवकेवलो (लो) पलब्धेः, गणधराणां तु सूत्रस्यात्मागमः, स्वयमेव ग्रथितत्वात्, अर्थस्यानन्तरागम, अनन्तरमेव तीर्थकरादागतत्वात्, उक्तं च—"अत्थं भासइ अरहा सुत्त गंथंति गणहरा निउणं" मित्यादि, गणधरशिष्याणां जम्बूस्वामिप्रभृतीनां सूत्रस्यानन्तरागमः, अव्यवधानेन गणधरादेवागतत्वात्, अर्थस्य

परम्परागमः गणधरेणैव व्यवधानात्, तत ऊर्ध्वं प्रभवादीनां सूत्रस्यार्थस्य च नात्मागमो नानन्तरागमः, तल्लक्षणायोगात्, अपितु परम्परागम एव, अनेन चागमस्य तीर्थकरादिप्रभवत्वभणनेनैकान्तापौरुषेयत्वं निवारयति, पौरुषताल्वादिव्यापारमन्तरेण नभसीव विशिष्टशब्दानुपलब्धेः, ताल्वादिभिरभिव्यज्यत एव शब्दो नतु क्रियत इति चेत, ननु यद्येवं तर्हि सर्ववचसामपौरुषेयत्वप्रसङ्गः, तेषां भाषापुद्गलनिष्पन्नत्वाद्, भाषापुद्गलानां च लोके सर्वदैवावस्थानतोऽपूर्वक्रियमाणताऽयोगेन ताल्वादिभिरभिव्यक्तिमात्रस्यैव निर्वर्तनात्, नच वक्तव्यं—वचनस्य पौद्गलिकत्वमसिद्धम महाध्वनिपटलपूरितश्रवणवाधिर्य कुड्यस्खलनाद्यन्यथानुपपत्तेः, तस्मान्नैकान्तेनापौरुषेयमागमवचः, ताल्वादिव्यापाराभिव्यङ्ग्यत्वात्, देवदत्तादिवाक्यवत्, इत्याद्यत्र वहुवक्तव्यं तत्तु नोच्यते स्थानान्तरनिर्णीतत्वादिति । 'से तं लोगुत्तरिए' इत्यादि निगमनत्रयम ॥ उक्तं ज्ञानगुणप्रमाणमथ दर्शगुणप्रमाणमाह—

मूलः—से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ?, २ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—चक्खुदंसणगुणप्पमाणे अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे ओहिदंसणगुणप्पमाणे केवलदंसणगुणप्पमाणे चक्खुदंसणं चक्खुदंसणिस्स घडपडकडरहाइएसु दव्वेसु अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणिस्स आयभावे ओहिदंसणं ओहिदंसणिस्स सव्वरूविदव्वेसु न पुण सव्वपज्जवेसु केवलदंसणं केवलदंसणिस्स सव्वदव्वेसु अ सव्वपज्जवेसु अ, से तं दंसणगुणप्पमाणे ।

टीका:—दर्शनावरणकर्म क्षयोपशमादिजं सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति, उक्तं च—'जं सामन्नगगहणं भावाणं नेय कट्टुमागारं। अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिइ वुच्चए समए ॥१॥ तदेवात्मनो गुण स एव प्रमाण दर्शनगुणप्रमाणम्, इदंच चक्षुर्दर्शनादिभेदाच्चतुर्विधम्, तत्र भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च चक्षुर्दर्शनिनः—चक्षुदर्शनलब्धिमतो जीवस्य घटादिषु द्रव्येषु चक्षुषो दर्शनं चक्षुर्दर्शनम्, भवतीति क्रियाध्याहार, सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटादिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयो. कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याग्रहणख्यापनार्थम्, उक्तं च—"निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहोदर्शनमुच्यते" इत्यादि, चक्षुवर्जशेषेन्द्रिय चतुष्टयं मनश्चचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शनमचक्षुर्दर्शन, तदपि भावाचक्षुरिन्द्रियावरण-क्षयोपशमात् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च अचक्षुर्दर्शनिन —अचक्षुर्दर्शनल-ब्धिमतो जीवस्यात्मभावे भवति, आत्मनि—जीवे भावः—संश्लिष्टतया सम्बन्धो, विषयस्य घटादेरिति गम्यते, तस्मिन् सति इद प्रादुर्भवतीत्यर्थः-इदमुक्तं भवति—चक्षुरप्राप्यकारि ततो दुरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिनत्ती-त्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थं घटादिषु चक्षुर्दर्शनं भवतीति पूर्व विषयस्य भेदेनाभिधानं कृतं, श्रोत्रादीनि तु प्राप्यकारीणि ततो द्रव्येन्द्रिय संश्लेष द्वारेण जीवेन सह सम्बद्धमेव विषयं परिच्छिन्दन्तीत्येतदर्शनार्थमात्मभावे भवतीत्येवमिह विषयस्याभेदेन प्रतिपादनमकारीति, उक्तं च—"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रुवं पुण पासई अपुट्ठं तु" इत्यादि। अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम्, अवधिदर्शनिन— अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमसमुद्भूतावधिदर्शनलब्धि-मतो जीवस्य सर्वेष्वपि रूपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु,यतोऽ

परम्परागमः गणधरेणैव व्यवधानात्, तत ऊर्ध्वं प्रभवादीनां सूत्रस्यार्थस्य च नात्मागमो नानन्तरागमः, तल्लक्षणायोगात्, अपितु परम्परागम एव, अनेन चागमस्य तीर्थकरादिप्रभवत्वभणनेनैकान्तापौरुषेयत्वं निवारयति, पौरुषताल्वादिव्यापारमन्तरेण नभसीव विशिष्टशब्दानुपलब्धेः, ताल्वादिभिरभिव्यज्यत एव शब्दो नतु क्रियते इति चेत्, ननु यद्येवं तर्हि सर्ववचसामपौरुषेयत्वप्रसङ्गः, तेषां भाषापुद्गलनिष्पन्नत्वाद्, भाषापुद्गलानां च लोके सर्वदैवावस्थानतोऽपूर्वक्रियमाणताऽयोगेन ताल्वादिभिरभिव्यक्तिमात्रस्यैव निर्वर्तनात्, नच वक्तव्यं—वचनस्य पौद्गलिकत्वमसिद्धम् महाध्वनिपटलपूरितश्रवणबाधिर्यं कुड्यस्खलनाद्यन्यथानुपपत्तेः, तस्मान्नैकान्तेनापौरुषेयमागमवचः, ताल्वादिव्यापाराभिव्यग्यत्वात्, देवदत्तादिवाक्यवत, इत्याद्यत्र बहुवक्तव्यं तत्तु नोच्यते स्थानान्तरनिर्णीतत्वादिति । 'से तं लोगुत्तरिए' इत्यादि निगमनत्रयम् ।। उक्तं ज्ञानगुणप्रमाणमथ दर्शगुणप्रमाणमाह—

मूलः—से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ?, २ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—चक्खुदंसणगुणप्पमाणे अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे ओहिदंसणगुणप्पमाणे केवलदंसणगुणप्पमाणे चक्खुदंसणं चक्खुदंसणिस्स घडपडकडरहाइएसु दव्वेसु अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणिस्स आयभावे ओहिदंसणं ओहिदंसणिस्स सव्वरूविदव्वेसु न पुण सव्वपज्जवेसु केवलदंसणं केवलदंसणिस्स सव्वदव्वेसु अ सव्वपज्जवेसु अ, से तं दंसणगुणप्पमाणे ।

टीका:—दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमादिजं सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति, उक्तं च—'जं सामन्नगहणं भावाणं नेय कट्टुमागार। अविसेसिऊण अत्थे दसणमिइ वुच्चए समए ॥१॥ तदेवात्मनो गुण स एव प्रमाण दर्शनगुणप्रमाणम्, इदच चक्षुर्दर्शनादिभेदाच्चतुर्विधम्, तत्र भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च चक्षुर्दर्शनिन:—चक्षुदर्शनलब्धिमतो जीवस्य घटादिषु द्रव्येषु चक्षुषो दर्शन चक्षुर्दर्शनम्, भवतीति क्रियाध्याहार, सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटादिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयो कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याग्रहणख्यापनार्थम्, उक्तं च—"निर्विशेषं विशेषाणा ग्रहोदर्शनमुच्यते" इत्यादि, चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय चतुष्टयं मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शनमचक्षुर्दर्शन, तदपि भावाचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमात् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च अचक्षुर्दर्शनिन.—अचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्यात्मभावे भवति, आत्मनि—जीवे भाव:—संश्लिष्टतया सम्बन्धो, विषयस्य घटादेरिति गम्यते, तस्मिन् सति इद प्रादुर्भवतीत्यर्थ:-इदमुक्तं भवति—चक्षुरप्राप्यकारि ततो दुरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिनत्तीत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थं घटादिषु चक्षुर्दर्शनं भवतीति पूव विषयस्य भेदेनाभिधानं कृतं, श्रोत्रादीनि तु प्राप्यकारीणि ततो द्रव्येन्द्रिय संश्लेष द्वारेण जीवेन सह सम्बद्धमेव विषयं परिच्छिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावे भवतीत्येवमिह विषयस्याभेदेन प्रतिपादनमकारीति, उक्तं च—"पुट्ठं सुणेइ सद्दं रुवं पुण पासई अपुट्ठं तु" इत्यादि। अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम्, अवधिदर्शनिन— अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमसमुद्भूतावधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वेष्वपि रुपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु,यतोऽ

वधेरुत्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगता सख्येया असंख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ता, जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ. रुपरसगन्धस्पर्शलक्षणाश्चत्वारः पर्याया इत्यर्थ, उक्तंच "दव्वओ असंखेज्जे संखेज्जे आवि पज्जवे लहइ। दो पज्जवे दुगुणिए लहइ य एगाउ दव्वाओ ॥१॥ अत्राह—ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, नच दर्शनं विशेषविषयं भवितुमर्हति, ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात्, कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्याया निर्दिष्टाः, साधूक्तं, केवलं पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनादिभिर्मृदादिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यन्ते न पुनस्ते तत एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयी भवन्तीति, ख्यापनार्थोऽत्र तदुपन्यास केवलं—सकलदृश्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शनं केवलदर्शनिन -तदावरणक्षयाविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्तामूर्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति। मनः पर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदाविशेषा नेव गृह्णदुत्पद्यते न सामान्य, अतस्तद्दशनं नोक्तंमिति, तदेतद्दर्शनगुणप्रमाणम् ॥

मूलः—से कि तं चरित्तगुणप्पमाणे ?, २ पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा—सामाइअचरित्तगुणप्पमाणे छेओवट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे परिहारविसुद्धिअचरित्तगुणप्पमाणे सुहुमसंपराय चरित्तगुणप्पमाणे अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे। सामाइअचरित्तगुणप्पमाणे दुविहेपण्णत्ते, तंजहा—इत्तरिए अ आवकहिएं अ। छेओवट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—

साइआरे अ निरइआरे अ। परिहारविसुद्धि चरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा निव्विसमाण य निव्विट्ठकाइए अ। सुहुमसंपरायगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—(संकिलिस्समाणए य विसुज्झमाणए य, अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—) पडिवाई अ अपडिवाई अ। (अहवा) अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे, दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—छउमत्थिए अ केवलिए य। से तं चरित्तगुणप्पमाणे, से तं जीवगुणप्पमाणे, से तं गुणप्पमाणे (सू० १४४)

टीका :—चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं तदेव चारित्रं, चारित्रमेवगुण. २ स एव प्रमाणं २ सावद्ययोगविरतिरूपं. तच्च पंचविधम्, सामायिकादि, पचविधमप्येतदविशेषतः सामायिकमेव, छेदादि विशेषैस्तु विशेष्यमाणं पञ्चधा भिद्यते, तत्राद्यं विशेषाभावात् सामान्यसंज्ञायामेवावतिष्ठते सामायिकमिति, सामायिकं पूर्वोक्तशब्दार्थं तच्चेत्वरं यावत्कथितं च तत्रेत्वरं भाविव्ययदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालं, तच्चाद्य चरमतीर्थंकरकालयोरेव यावदद्यापि महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावच्छिष्यस्य संभवति, आत्मन कथां यावदास्ते तद् यावत् कथं-यावज्जीवमित्यर्थ. यावत्कथमेव यावत्कथिकम् , एतच्च भरतैरावतेष्वाद्य चरमवर्जमध्यमतीर्थंकरसाधूनां महाविदेहतीर्थंकरयतीनां च संभवति, पूर्वपर्य्यायस्य छेदेनोपस्थापनं महाव्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनं, भरतैरावतप्रथमपश्चिमतीर्थंकरतीर्थे एव, नान्यत्रप तच्च सातिचारं निरतिचारं च तत्रेत्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य

यदारोप्यते तीर्थान्तर वा सक्रामत साधोर्यथा पार्श्वनाथतीर्थान्महावीर-तीर्थं संक्रामतस्तन्निरतिचारं, मूलगुणघातिनस्तु यत् पुनर्व्रतारोपणं तत्सातिचारं । परिहार -तपोविशेषस्तेन विशुद्धं, अथवा परिहार. अनेषणीयादेः परित्यागोविशेषेणशुद्धो यत्र तत्परिहारविशुद्धं तदेव परिहार-शुद्धिकम्, तदपि द्विविध–निर्विश्यमानकं निर्विष्टकायिकं च तत्र निर्विश्यमानकम्-आसेव्यमानम् , अथवा तदनुष्ठातार साधवो निर्विश्यमानकाः तत्सहयोगात्तदपि निर्विश्यमानकं, निर्विष्ट-आसेवित प्रस्तुत तपो विशेष. कायो येपां ते निर्विष्टकाया , त एव निर्विष्टकायिका साधवः, तदाश्रयत्वाद् प्रस्तुतचारित्रमपि निर्विष्टकायिकं, इदमत्र हृदयम्-तीर्थकर-चरणमूले येन तीर्थकरसपीपे अद प्रतिपन्नपूवं तदन्तिके वा नवको गण परिहारविशुद्धिचारित्रं प्रतिपद्यन्ते, नानस्य समीपे, तत्रैक कल्प-स्थितो यदन्तिके सर्वा सामाचारो क्रियते, चत्वारस्तु साधवो वद्यमाणं तप कुर्वन्ति, ते च परिहारिका इत्युच्यन्ते, अन्ये तु चत्वारो वैयावृत्य कर्तृत्वं प्रतिपद्यन्ते, तेचानुपरिहारिका इति व्यपदिश्यन्ते, तत्र परिहार-काणां तपः प्रोच्यते-ग्रीष्मे जघन्यतश्चतुर्थ मध्यम पदे षष्ठ उत्कृष्टतस्त्वष्टमं शिशिरे जघन्यमध्यमोत्कृष्टपदेपु यथा संख्यंपष्ठमष्टमदशमं च, वर्षासु जघन्यादिपदत्रये पि यथाक्रममष्टमं दशमं द्वादशं च, शेषास्तु कल्पस्थितानु-परिहारिकाः पचापि प्रायो नित्यभक्ता नोपवासं कुर्वन्ति, भक्तं च पञ्चानामप्याचामलमेव. नान्यत्, ततः परिहारिकाः षण्मासान्यावद्यथोक्तं तप कृत्वा अनुपहारिकतां प्रतिपद्यन्ते, अनुपरिहारिकास्तु परिहारिकतां, तैरपि षण्मासान्यावद्यदा तपः कृतं भवति तदा कृततपसामष्टानां मध्यादेकः कल्पस्थितो व्यवस्थाप्यते, अग्रेतनश्चासौ षड्मासान्यावद्यथोक्तं तपः

करोति, शेषास्तु सप्तानुचरतामाश्रयन्ति, एवं चाष्टादशभिर्मासैरयं कल्प' समाप्यते तत्समाप्तौ च भूयस्तमेव कल्प जिनकल्पं प्रति पद्येरन् गच्छं वा प्रत्यागच्छेयुरिति त्रयीगतिः, अपरं चैतच्चारित्रं छेदोपस्थापनचरणवतामेव भवति, नान्येषामित्यलमतिप्रसंगेन, तदेवमिह यो यस्तपः कृत्वा अनुपरिहारिकतां कल्पस्थिततां वाऽङ्गी करोति तत्सम्बन्धी परिहारविशुद्धिक निर्विष्टकायिकमुच्यते, ये तु तप' कुर्वन्ति तत्सम्बन्धि निर्विश्यमानकमिति स्थितम् । संपरैति-पर्यटति ससारमनेनेति सम्पराय क्रोधादिकषायः, लोभाशमात्रावशेषतया सूक्ष्म सम्परायो यत्र तत्सूक्ष्मसम्परायम् इदमपि संक्लिश्यमान विशुध्यमानकभेदात् द्विधैव, तत्र श्रेणीमारोहतोविशुध्यमानकमुच्यते, ततः प्रच्यवमानस्य सक्लिश्यमानकमिति, 'अहक्खायं' ति अथ शब्दोऽत्रयाथातथ्ये आङभिविधौ आसमन्ताद्याथातथ्येन ख्यातमथाख्यातं कषायोदयाभावतो निरतिचारत्वात पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातमित्यर्थ, एतदपि प्रतिपात्यप्रतिपाति भेदात् द्वेधा, तत्रोपशान्तमोहस्य प्रतिपाति क्षीणमोहस्यत्वप्रतिपाति, अथवा केवलिनश्छद्मस्थस्यचोपशान्तमोहक्षीणमोहस्य तद् भवत्यत स्वामी भेदात् द्वैविध्यमिति । तदेतच्चारित्रगुणप्रमाणम्, तदेत्तज्जीवगुणप्रमाण, तदेतद्गुणप्रमाणमिति ॥१४४॥ तदेवजीवाजीवभेदभिन्नं गुणप्रमाणं प्रतिपाद्य क्रमप्राप्तं नयप्रमाण प्रतिपादयन्नाह

मूलः—से कि तं नयप्पमाणे ?, २ तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—पत्थगदिट्ठ तेणं वसहिदिट्ठ तेणं पएसदिट्ठ तेणं । से किं तं पत्थगदिट्ठ तेणं ?, २ से जहानामए केई

पुरिसे परसुं गहायअडवीसमहुत्तो गच्छेज्जा, तं पासित्ता केई वएज्जा—कहिभवं गच्छसि ?, अविसुद्धोनेगमो भणइ-पत्थगस्स गच्छामि, तंच केई छिंदमाणं पासित्ता वएज्जा-किभवं छिंदसि ?, विसुद्धोनेगमो भणइ—पत्थयं छिंदामि, तंच केई तच्छमाणं पासित्ता वएज्जा—किंभवं तच्छसि ?, विसुद्धतराओ णेगमोभणइ पत्थयं तच्छामि, तंच केई उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा—कि भवं उक्कीरमि ?, विसुद्धतराओ णेगमो भणइ पत्थयं उक्कीरामि, तंच केई (वि) लिहमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं (वि) लिहसि ?, विसुद्धतराओणेगमो भणइ पत्थयं (वि) लिहामि। एवं विसुद्धतरस्स णेगमस्स नामाउडिओ पत्थओ, एवमेव ववहारस्सवि, संगहस्स चियमियमेज्ज समारूढो पत्थओ, उज्जुसुयस्सपत्थओऽविपत्थओमेज्जंपि पत्थओ तिण्हं सद्दनयाण पत्थयस्स अत्थाहिगारजाणओ जस्स वा वसेण पत्थओ निप्फज्जइ, से तं पत्थयदिट्ठ तेणं ॥

टीका :—अनन्तधर्मणो वस्तुन एकांशेन नयनं नयः स एव प्रमाणं नयप्रमाणं, त्रिविध प्रज्ञप्तमिति, यद्यपि नैगम संग्रहादि भेदतो वह्वो नयास्तथापि प्रस्थकादि दृष्टान्तत्रयेण सर्वेषामिह निरूपयितु मिष्टत्वात्त्रैविध्यमुच्यते, तथाचाह—तद्यथा—प्रस्थकदृष्टान्तेनेत्यादि,

प्रस्थकादिदृष्टान्तत्रयेण हेतुभूतेन त्रिविधं नयप्रमाणं भवतीत्यर्थः, तत्र प्रस्थक दृष्टान्त दर्शयति,—तद्यथानामकः कश्चित्पुरुषः परशुं—कुठारं गृहीत्वा अटवीमुखो गच्छेदित्यादि, इदमुक्तं भवति—प्रस्थको—मागधदेशप्रसिद्धो धान्यमानविशेषस् तद्धेतुभूतकाष्ठकर्तनाय कुठारव्यग्रहस्तं तथाविध पुरुषमटवीं-गच्छन्तं दृष्ट्वा कश्चिदन्यो वदेत्—क भवान् गच्छति ?, तत्राविशुद्ध नैगमो भणति—अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरयतीत्यर्थः, किमित्याह प्रस्थकस्य गच्छामि, इदमुक्तं भवति—नैके गमा - वस्तुपरिछेदा यस्य अपि तु वहव स निरुक्तवशात् ककारलोपतो नैगम उच्यते, अतो यद्यप्यत्र प्रस्थककारणभूतकाष्ठनिमित्तमेवगमनं, नतु प्रस्थकनिमित्तं, तथाऽप्यनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगम परत्वात् कारणे कार्योपचारात् तथाव्यवहार दर्शनादेवमप्यभिधत्तेऽसौ—प्रस्थकस्य गच्छामीति, तंच कश्चित् छिन्दन्तं, वृक्षमिति गम्यते, पश्येद्, दृष्ट्वा च वदेत्—किं भवान् छिनत्ति ?, तत प्राक्तनात् किंचिद्विशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ—भणति—प्रस्थकं छिनद्मि, अत्रापि कारणे कार्योपचारात्तथाव्यवहृति दर्शनादेव काष्ठेऽपि छिद्यमाने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तर, केवलं काष्ठस्यप्रस्थकं प्रति कारणता-भावस्यात्र किंचिदासन्नत्वाद्विशुद्धत्वं, प्राक् पुनरतिव्यवहितत्वात् मलीम-सत्वम्, एवं पूर्वपूर्वापेक्षया यथोत्तरस्य विशुद्धता भावनीया, नवरं तक्षणुवन्तं तनूकुर्वन्तं उत्किरतं वेधनकेन मध्याद् विकिरन्त विलिखन्तं—लेखन्या मृष्ट कुर्वाणं, एवमनेनप्रकारेण तावन्नेय यावद्विशुद्धतरनैगमस्य 'नामाउडिर्डात्त आकुट्टितनामा प्रस्थकोऽयमित्येवनामाङ्कितो निष्पन्नः प्रस्थक इति,। एवमेव व्यवहारस्यापीति, लोकव्यवहारप्राधान्येनायं व्यव-हारनय, लोके च पूर्वोक्तावस्थासु सर्वत्र प्रस्थकव्यवहारो दृश्यतेऽतो

व्यवहारनयोऽप्येवमेवप्रतिपद्यते इति भाव । 'संगहस्से' त्यादि, सामान्यरुपतया सर्वं वस्तु संगृह्णाति—क्रोडीकरोतीति संग्रहस्तस्य मतेन चितादिविशेषणैर्विशिष्ट एव प्रस्थो भवति, नान्यः, तत्र चितो—धान्येन-व्याप्तः, सच देशतोऽपि भवत्यत आह 'मित' पूरितः, अनेनैव प्रकारे-ण मेयं समारुढं यत्र स आहितादेराकृतिगणत्वान्मेयसमारुढः, अयमत्र भावार्थः—प्राक्तननयद्वयस्याविशुद्धत्वात् प्रस्थककारणमपि प्रस्थक उक्त अनिष्पन्न प्रस्थकोऽपि स्वकार्याकरणकालेऽपि प्रस्थक इष्ट, अस्य तु ततोविशुद्धत्वाद्धान्यमानलक्षण स्वार्थं कुर्वन्नेव प्रस्थक, तस्य तदर्थत्वात्, तदभावे च प्रस्थकव्यपदेशेऽतिप्रसङ्गादिति यथोक्त एव प्रस्थक, सोऽपि प्रस्थक सामान्याव्यतिरेकात् व्यतिरेके चाप्रस्थकत्व प्रसंगात् सर्व एक एव प्रस्थक इति प्रस्तुतनयो मन्यते, सामान्यवादित्वादिति, । "उज्जुसुयस्से' त्यादि ऋजुसूत्रः—पूर्वोक्तशब्दार्थः तस्य निष्पन्नस्वरुपोऽर्थक्रियाहेतुः प्रस्थको-ऽपि प्रस्थक, तत्परिछिन्नं धान्यादिकमपि वस्तु प्रस्थक, उभयत्र प्रस्थ-कोऽयमिति व्यवहारदर्शनात्, तथाप्रतीते, अपरं चासौ पूर्वस्माद्विशुद्धत्वा-द्वर्तमाने एव मानमेये प्रस्थकत्वेन प्रतिपद्यते, नातीतानागतकाले, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्वादिति । 'तिण्हंसद्दनयाण' मित्यादि, शब्दप्रधाना नयाः शब्दनया—शब्दसमभिरुढैवंभूताः, शब्देऽन्यथा स्थितेऽर्थमन्यथानेच्छन्त्यमी, किन्तु ?, यथैव शब्दो व्यवस्थितस्तथैव शब्देनार्थं गमयन्तीत्यतः शब्दनया उच्यन्ते,

द्यास्तु यथाकथञ्चिच्छब्दा प्रवर्तन्तामर्था एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वा-र्थनया प्रकीर्त्यन्ते, अत—एषां त्रयाणां शब्दनयानां, 'प्रस्थकार्थाधि-कारज्ञः' प्रस्थकस्वरुपपरिज्ञानोपयुक्त प्रस्थक, भावप्रधाना ह्येते नयाइत्यतो

भावप्रस्थकमेवेच्छन्ति, भावश्च प्रस्थकोपयोगोऽत स प्रस्थकः, तदुपयोगवानपि च ततोऽव्यतिरेकात् प्रस्थक, योहि यत्रोपयुक्त सोऽमीषा मते स एवभवति, उपयोगलत्तणो जीव उपयोगश्चेत् प्रस्थकादिविषयतया परीणत किमन्यज्जीवस्य रुपान्तरमस्ति ?, यत्र व्यपदेशान्तरं स्यादिति भाव, 'जस्सवावसेणे' त्यादि, यस्य वा प्रस्थककर्तृगतस्योपयोगस्य वशेन प्रस्थको निष्पद्यते तत्रोपयोगे वर्तमान कर्ता प्रस्थको, नहि प्रस्थकेऽनुपयुक्त प्रस्थकं निर्वर्तयितुं कर्ता समर्थ, ततस्तदुपयोगानन्यत्वात् स एव प्रस्थक, इमां च तेऽत्र युक्तिमभिदधति—सर्ववस्तु स्वात्मन्येव वर्तते, नत्वात्मव्यतिरिक्ते आधारे, वद्यमाण युक्त्या एतन्मतेनान्यस्यान्यत्र वृत्त्ययोगात्, प्रस्थकश्च निश्चयात्मकं मानमुच्यते, निश्चयश्च ज्ञान, तत्कथं जडात्मनि काष्ठभाजनेवृत्तिमनुभविष्यति ?, चेतनाचेतनयो सामानाधिकरण्याभावात्, तस्मात् प्रस्थकोपयुक्त एव प्रस्थक । 'से त' मित्यादि निगमनम् ॥

मूल.—से किं तं वसहिदिट्ठ तेणं ?, २ से जहानामए केई पुरिसे कंचि पुरिसं वएज्जा—कहि भवं वससि ?, तं अविसुद्धो णेगमो भणइ—लोगे वसामि, लोगे तिविहे पण्णत्ते, तंजहा-उड्ढलोए अहोलोए तिरिअलोए, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसुद्धो णेगमो भणइ—तिरिअलोए वसामि, तिरीअलोए जंबुद्दीवाइआ सयंभूरमणपज्जवसाणा असंखिज्जा दीवसमुद्दा पण्णत्ता, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसुद्धतराओणेगमो भणइ-जंबुद्दीवे वसामि, जंबुद्दीवे दस खेत्ता, पण्णत्ता, तंजहा—भरहे-

एरवए हेमवए एरण्णवए हरिवस्से रम्मगवस्से देवकुरू उत्तरकुरु पुव्वविदेहे अवरविदेहे, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-भरहे वासे वसामि, भरहे वासे दुविहे पण्णत्ते तंजहा-दाहिणड्ढभरहे उत्तरड्ढभरहे अ, तेसु सव्वेसु (दोसु) भवं वससि? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-दाहिणड्ढभरहे वसामि, दाहिणड्ढ-भरहे अणेगाइं गामागरणगरखेडेकब्बडमडंवदोणमुहपट्टणासम-संवाहसण्णिवेसाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पाडलिपुत्ते वसामि, पाडलिपुत्ते अणेगाइं गिहाइं तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसु० णेग० भणइ-देवदत्तस्स घरे वसामि, देवदत्तस्सघरे अणेगा कोट्ठगा, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?, विसु० णे० भणइ-गब्भ घरे वसामि, एवंविसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो, एवमेव ववहारस्सवि, संगहस्स संथारसमारूढो वसइ, उज्जुसुअस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु वसइ, तिण्हंसद्दनयाणं आयभावे वसइ। से तं वसहिदिट्ठंतेणं।

टीकाः—वसतिः निवासस्तेन दृष्टान्तेन नयविचार उच्यते, तद्यथा नामक कश्चित्पुरुषः पाटलिपुत्रादौ वसन्तं कञ्चित्पुरुषं वदेत् क्व भवान् वसति ? तत्राविशुद्धनैगमो भणति-अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरं प्रयच्छति—लोके वसामि, तन्निवासक्षेत्रस्यापि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकादनर्थान्तरत्वाद् इत्थमपि च व्यवहारदर्शनात्, विशु-

द्धनैगमस्त्वतिव्याप्तिपरत्वादिदमसङ्गतं मन्यते, ततस्तिर्यग्लोके वसामीति संक्षिप्योत्तरं ददाति, विशुद्धतरस्त्विदमप्यतिव्याप्ति निष्ठं मन्यते, ततो जम्बूद्वीपेवसामीति संक्षिप्ततरमाह, एवमारतवर्षदक्षिणार्द्धभरतपाटलिपुत्रदेवदत्तगृहगर्भगृहेष्वपि भावनीयम् , एवं 'विसुद्धस्सणेगमस्स वसमाणो वसइ' एवमुत्तरोत्तरभेदापेक्षया विशुद्धतरनैगमस्य वसन्नेव वसति, नान्यथा, इदमुक्तं भवति–यत्र गृहादौ सर्वदा निवासित्वेनासौ विवक्षित. तत्र तिष्ठन्नेव एष तत्र वसतीति व्यपदिश्यते, यदि पुन. कारणवशतोऽन्यत्र रथ्यादौ वर्तते तदा तत्र विवक्षिते गृहादौ वसतीति न प्रोच्यते, अतिप्रसङ्गादिति भावः, 'एवमेवे' त्यादि, लोकव्यवहारनिष्ठो हि व्यवहारनयो, लोके च नैगमोक्तप्रकार सर्वेऽपि दृष्यन्ते इति भाव , अथ चरमनैगमोक्तप्रकारो लोके नैष्यते, कारणतो ग्रामादौ वर्तमानेऽपि देवदत्ते पाटलिपुत्रे एष वसतीति व्यपदेशदर्शनादिति चेत् , नैतदेवं, प्रोषिते देवदत्तो स इह वसति नवेति केनचित्पृष्टे प्रोषितोऽसौ नेह वसतीत्यस्यापि लोकव्यवहारस्य दर्शनादिति । 'संगहस्से' त्यदि, प्राक्तनात् विशुद्धत्वात् सग्रहनयस्य गृहादौ तिष्ठन्नपि संस्तारकारूढ एव शयनक्रियावान् वसतीत्युच्यते, इदमुक्तं भवति-संस्तारकेऽवस्थानादन्यत्रनिवासार्थ एव न घटते, चलनादिक्रियावत्त्वात् , मार्गादिप्रवृत्तवत् संस्तराके च वसतो गृहादौ वसतीति व्यपदेशायोग एव, अतिप्रसङ्गात् , तस्मात क्वासौ वसतीति निवासजिज्ञासायां सस्तराके–शय्यामात्रस्वरूपे वसतीत्ये तदेवास्य मतेनोच्यते, नान्यदिति भावः, स च नानादेशादिगतोऽप्येक एव संग्रहस्य सामान्यवादित्वादिति । ऋजुसूत्रस्य तु पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद् येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तेष्वेव वसतीत्युच्यते न संस्तराके, सर्वस्यापि

वस्तुवृत्या नभस्येवावगाढ़ात्, येषु प्रदेशेषु सस्तारको वर्तते संस्तारके णवाक्रान्ता वर्तन्ते, ततो येष्वेव प्रदेशेषु स्वयमवगाढस्तेष्वेव वसतीत्यु-च्यते, स च वर्तमानकाल एवास्ति, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनैतन्मतेऽ-सत्वादिति ।। त्रयाणां शब्दनयानामात्मभावे-स्वस्वरूपे सर्वोऽपि वसति अन्यस्यान्यत्रवृत्ययोगात्, तथाहि अन्योऽन्यत्र वर्तमानः किं सर्वात्मना वर्तते देशात्मना वा ?, यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याधारव्यतिरेकिणास्वकीयरू-पेणाप्रतिभासनप्रसङ्गो, यथाहि संस्तारकाद्याधारस्य स्वरूपं सर्वात्मना तत्र वृत्त न तद् व्यतिरेकेणोपलभ्यते एवं देवदत्तादिरपि सर्वात्मना तत्राधीयमानस्तद् व्यतिरेकेण नोपलभ्यते, अथ द्वितीयो विकल्पः स्वी-क्रियते, तर्हि तत्रापि देशे अनेन वर्त्तितव्यं, तत पुनरपि विकल्पद्वयं-किं सर्वात्मनावर्त्तते देशात्मनावेति ? सर्वात्मपक्षेदेशिनो देशरूपताऽऽपत्ति, देशात्मपक्षे तु पुनस्तत्रापिदेशे देशिना वर्त्तितव्यं, ततः पुनरपि तदेव वि-कल्पद्वयं, तदेवदूषणमित्यनवस्था, तस्मात्सर्वोऽपि स्वस्वभाव एव निव-सति, तत्परित्यागेनान्यत्र निवासे तस्य निःस्वभावता प्रसंगादित्यलं बहुभा-षितया । 'से त' मित्यादि निगमनम्

मूलः—से किं तं पएसदिट्ठंतेणं ?, २ णेगमो भणइ—छण्हं पएसो, तंजहा—धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीवपएसो खंधपएसो देसपएसो, एवं वयंतं णेगमं संगहो भणइ—जं भणसि—छण्हंपएसो तं न भवइ, कम्हा ?, जम्हा जो देसपएसो सो तस्सेव दव्वस्स, जहा को दिट्ठंतो ?, दासेण मे खरो कीओ दासोऽवि मे खरोऽवि मे, तं मा भणाहि—छण्हं

पएसो, भणाहि पंचण्हं पएसो, तंजहा–धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीवपएसो खंधपएसो, एव वयंतं संगहं ववहारो भणइ–ज भणसि–पंचण्हं पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जइ जहा पंचण्हं गोट्ठिआणं पुरिसाणं केइ दव्व जाए सामण्णे भवइ तंजहा–हिरण्णे वा सुवण्णे वा धणे वा धण्णे वा तं न ते जुत्तं वत्तं जहा पंचण्हं पएसो, तं मा भणाहि–पंचण्हं पएसो, भणाहि–पंचविहो पएसो, तंजहा–धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीवपएसो खंधपएसो, एवं वयंतं ववहारं उज्जुसुओ भणइ–जं भणसि–पंचविहोपएसो, त न भवइ, कम्हा ?, जइ ते पंचविहो पएसो एवं ते एक्केक्को पएसो पंचविहो एवं ते पणवीसतिविहो पएसो भवइ–तं मा भणाहि–पंचविहो पएसो, भणाहि–भइयव्वो पएसो–सिअ धम्मपएसो सिअ अधम्मपएसो सिअ आगासपएसो सिअ जीवपएसो सिअ खंधपएसो, एवं वयंतं उज्जुसुयं सपइ सद्दनओ भणइ–जं भणसि भइयव्वो पएसो, तं न भणइ, कम्हा ?, जइ भइअव्वो पएसो, एवं ते धम्मपएसोऽवि सिअ धम्मपएसो सिअ अधम्मपएसो सिअ आगासपएसो सिअ जीवपएसो सिअ खंधपएसो, अधम्मपएसोऽवि सिअ धम्मपएसो जाव खंधपएसो, जीवपएसोऽवि सिअ धम्मपएसो

जाव सिअ खंधपएसो, एवं ते अणवत्था भविस्सइ, तं मा भणाहि-भइयव्वो पएसो, भणाहि धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, अहम्मे पएसे से पएसे अहम्मे, आगासे पएसे से पएसे आगासे, जीवे पएसे से पएसे नो जीवे, खंधे पएसे से पएसे नोखंधे, एवं वयंतं सद्दनयं समभिरूढोभणइ—जं भणसि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे जाव जीवे पएसे से पएसे नोजीवे खंधे पएसे से पएसे नोखंधे, तं न भवइ, कम्हा ?, इत्थं खलु दो समासा भवंति, तंजहा—तप्पुरिसे अ कम्मधारए अ, तं ण णज्जइ कयरेणं समासेणं भणसि ?, कि तप्पुरिसेण किं कम्मधारएणं ?, जइ तप्पुरिसेणं भणसि तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि तो विसेसओ भणाहि, धम्मे अ से पएसे अ से पएसे धम्मे अहम्मे अ से पएसे अ से पएसे अहम्मे, आगासे अ से पएसे अ से पएसे आगासे जीवे अ से पएसे अ से पएसे नोजीवे, खंधे अ से पएसे अ से पएसे नोखंधे, एवं वयंतं समभिरूढ संपइ एवंभूओभणइ-ज जं भणसि तं त सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरवसेस एगगहणगहियं देसेऽवि मे अवत्थू पएसेऽवि मे अवत्थू से तं पएसदिट्ठंतेणं। से तं नयप्पमाणे (सू० १४५)

टीका:—प्रकृष्टो देशःप्रदेशो-निर्विभागो भाग इत्यर्थ, स एव दृष्टान्त स्तेन नय मतानि चिन्त्यन्ते--तत्र नैगमो भणति-षण्णा प्रदेश. तद्यथा-'धम्मपएसे' इत्यादि, धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रदेशो धर्म-प्रदेश , एवमधर्माकाशजीवास्तिकायेष्वपियोज्यं, स्कन्ध'—पुद्गलद्रव्यनिचय स्तस्य प्रदेशः स्कन्धप्रदेश., देश —एषामेव पंचानां धर्मास्तिकायादिद्रव्याणा प्रदेशद्वयादिनिवृत्तोऽवयवस्तस्य प्रदेशो देशप्रदेश, अय च प्रदेश सामान्या व्यभिचारात् षण्णां प्रदेश इत्युक्त, विशेषविवक्षायां तु षट् प्रदेशा'। एवं वदन्तं नैगमं ततो निपुणतर' संग्रहो भणति—यद् भणसि षण्णां प्रदेश इति, तन्न भवति-तन्न युज्यते, कस्मात् ?, यस्मात् यो देश प्रदेश इति षष्ठ स्थाने भवता प्रतिपादितं, तदसङ्गतमेव, यतोधर्मास्ति कायादिद्रव्यस्य सम्बन्धी यो देशस्तस्य य प्रदेश स वस्तुवृत्या तस्यैव द्रव्यस्य यत्सम्बन्धो देशो विवक्ष्यते, द्रव्याव्यतिरिक्तस्यदेशस्य यः प्रदेशः स द्रव्यस्यैव भवति, यथा कोऽत्र दृष्टांत इत्याह—'दासेणे' त्यादि' लोकेऽ-प्येवं व्यवहृतिर्दृश्यते, यथा कश्चिदाह—मदीय दासेन खरः क्रीत', तत्र दासोऽपि मदीय , खरोऽपि मदीय , दासस्य मदीयत्वात् तत्क्रीतः खरोऽपि मदीय इत्यर्थ', एवमिहापि देशस्य द्रव्यसम्बन्धित्वात्तत्प्रदेशोऽपि द्रव्यसम्बन्ध्येवेति भाव , तस्मान्मा भण —षण्णां प्रदेश., अपित्वेव भण-पञ्चानां प्रदेश इति, त्वदुक्त-षष्ठप्रदेशस्यैवाघटनादित्यर्थ . तदेव दर्शयति-तद्यथा—धर्मप्रदेश इत्यादि, एतानि च पच द्रव्याणि तत्प्रदेशाश्चेत्येवमप्य-विशुद्धसंग्रह एव मन्यते, अवान्तर द्रव्ये समान्याद्यभ्युपगमात, विशुद्धस्तु द्रव्यवाहुल्य प्रदेशकल्पनां च नेच्छत्येव, सर्वस्यैव वस्तुसामान्य क्रोडी-कृतत्वेनैकत्वादित्यल प्रसगेन । प्रकृतमुच्यते-एवं वदन्तं संग्रहं ततोऽपि

निपुणो व्यवहारो भणति,-यद् भणसि पञ्चानां प्रदेश इति, तन्न भवति युज्येते, कस्मात् ? यदि यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां किञ्चद् द्रव्यं सामान्यं-एकं भवति, तद्यथा-हिरण्यंवेत्यादि, एवं यदि प्रदेशोऽपि स्यात्तत्तो युज्यते वक्तुं-पञ्चानां प्रदेश इति इदमुक्तं भवति-यथा केषाञ्चित् पंचानां पुरुषणां साधारणं किञ्चद्धिरण्यादि भवति, एवं पञ्चानामपि धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां यद्येक कश्चित्साधारणः प्रदेशः स्यात्तदेयं वाचो युक्ति घटते, नचैतदस्ति प्रतिद्रव्यं प्रदेश भेदात, तस्मान्मा भण-पंचानां प्रदेशः, अपि तु भण- पचावधः-पचप्रकार. प्रदेशः, द्रव्यलक्षणस्याश्रयस्य पंचविधत्वादिति भाव, तदेवाह-धर्मप्रदेश इत्यादि, एवं वदन्तं व्यवहारमृजुसूत्रो भणति-यद् भणसि पंचविध. प्रदेशः तन्न भवति, कस्मात् ? यस्माद्यदि ते पचविध. प्रदेश एवमेकैको धर्मास्तिकायादिप्रदेश. पचविधः प्राप्तः, शब्दादत्र वस्तु व्यवस्था, शब्दाच्चैवमेव प्रतीतिभर्वति एवं च सति पंचविंशतिविध प्रदेश— प्राप्नोति, तस्मान्मा भण पंचविध. प्रदेशः, किन्त्वेवं भण-भाज्यः प्रदेश., स्याद्धर्मस्येत्यादि, इदमुक्तं भवति-भाज्यो— विकल्पनीयो विभजनीय. प्रदेश, कियद्भिर्विभागैः ? स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि पचभिः, ततश्च पंचभेद एव प्रदेश सिध्यति, स च यथा स्वमात्मीयात्मीय एवास्ति न परकीय, तस्यार्थक्रियाऽसाधकत्वात् प्रस्तुत नयमतेनामस्यादिति । एव भणन्तमृजुसूत्रं साम्प्रतं शब्दनयो भणाति-यद्भणसि-भाज्य प्रदेश, तन्न भवति, कुतो ?, यतो यदि भाज्य. प्रदेशः, एवं ते धर्मास्तिकाय प्रदेशोऽपि कदाचिद् धर्मास्तिकायादिप्रदेश. स्याद्, अधर्मातिकायप्रदेशोऽपि कदाचिद् धर्मास्तिकायादि प्रदेश स्याद्, इत्थमपिभजनाया अनिवारित्वात,

यथा एकोऽपि देवदत्तः कदाचिद्राज्ञोभृत्य कदाचिदमात्यादेरिति, एवमाकाशास्तिकायादिप्रदेशोऽपिवाच्यं, तदेव नैयत्याभावात्तवाप्यनवस्था प्रसज्येतेति, तन्मैव भण–भाज्य प्रदेशः, अपितु इत्थ भण-'धम्मे पएसे' [से पएसे धम्मे]' इत्यादि, इदमुक्तं भवति धर्म प्रदेश इति-धर्मात्मक प्रदेश इत्यर्थः अत्राह–नन्वयं प्रदेश सकलधर्मास्तिकायादिव्यतिरिक्त. सन् धर्मात्मक इत्युच्यते, आहोस्वित्तदेकदेशाव्येतिरिक्त सन् यथा सकलजीवास्तिकायैकदेशैकजीवद्रव्याव्यतिरिक्त सँस्तत्प्रदेशो जीवात्मक इति व्यपदिश्यत इत्याह 'से पएसे धम्मेऽ' त्ति स प्रद्रेशो धर्म -सकलधर्मास्तिकायादव्यतिरिक्त-इत्यर्थः, जीवास्तिकाये हि परस्परं भिन्नान्येवानन्तानि जीवद्रव्याणि भवन्ति, अतो य एकजीवद्रव्यस्य प्रदेश स नि शेष जीवास्तिकायैकदेशवृत्तिरेव सन् जीवात्मक इत्युच्यते, अत्र तु धर्मास्तिकाय एकमेव द्रव्यं तत सकलधर्मास्तिकाया व्यतिरिक्त एव सँस्तत्प्रदेशो धर्मात्मक इत्युच्यत इति भाव, । अधर्माकाशास्तिकाययोरप्येकैकद्रव्यत्वादेवमेव भावनीयम् । जीवास्तिकाय तु 'जीवेपएसे से पएसे नोजीवे, त्ति, जीव प्रदेश इति जीवास्तिकायात्मकः प्रदेशः इत्यर्थ. सच प्रदेशो नोजीव, नोशब्दस्येह देशवचनत्वात् सकलजीवास्तिकायैकदेश वृत्तिरित्यर्थः यो ह्येकजीवद्रव्यात्मक प्रदेश स कथमनन्तजीवद्रव्यात्मके समस्त जीवास्तिकाये वर्तेत इति भाव, एव स्कन्धात्मकः प्रदेशो नो स्कन्ध, स्कन्धद्रव्याणामनन्तत्वादेक देशवर्तिरित्यर्थ, । एव वदन्तं शब्दनयं नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढ स आह–यद्भणसि–धर्म प्रदेश. सप्रदशो धर्म इत्यादि, तन्न भवति–न युज्यते कस्मादित्याह–इह खलु द्वौ समासौ भवत', तद्यथा–तत्पुरुष' कर्मधारयश्च, इदमुक्तं भवति,– धम्मे पएसे से पएसे धम्मे इत्युक्ते समासद्वयारम्भकवाक्यद्वयमत्र सम्भाव्यते, तथाहि-यदि धर्म शब्दात्

सप्तमीयं तदा सप्तमीतत्पुरुषस्यारम्भकमिदं वाक्यं, यथा वने हस्तीत्यादि, अथ प्रथमा तदा कर्मधारयस्य, यथा नीलमुत्पलमित्यादि, ननु यदि वाक्यद्वयमत्र सम्भाव्यते तर्हि कथं द्वौ समासौ भवत इत्युक्तम् ?, उच्यते, समासारम्भक-वाक्ययोः समासोपचारात्, अथवा अलुकसमासविवक्षया समासावप्येतौ भवतो, यथा कण्ठेकाल इत्यादीत्यदोषः, यदि नाम द्वौ समासावत्र भवतस्ततः किमित्याह तन्न ज्ञायते कतरेण समासेन भणसि ?, किं तत्पुरुषेण कर्मधार-येण वा ? यदि तत्पुरुषेण भणसि, तन्मैवं भण, दोषसम्भवादितिशेष स चायं दोषो—धर्मे प्रदेश इति भेदापत्ति , यथा कुण्डेवदराणीति, न च प्रदेशेदेशिनौ भेदेनोपलभ्येते, अथ अभेदेऽपि सप्तमीदृश्यते यथा घटेरूपमित्यदि, यद्येवमुभयत्रदर्शनात् संशयलक्षणो दोष स्यात्, अथ कर्म धारयेण भणसि ? ततो विशेषेण भण, धम्मे अ से पएसे य से' त्ति, धर्मश्च स प्रदेशश्च स इति समानाधिकरणः कर्मधारयः, एवं च सप्त म्याशङ्काभावतो न तत्पुरुषसम्भव इति भावः। आह—नन्वयं प्रदेशः समस्तादपि धर्मास्तिकायादव्यतिरिक्त. सन् समानाधिकरणतयाऽनिर्दि-श्यते ? उत तदेकदेशवृत्ति सन् यथा जीवास्तिकायैकदेशवृत्तिर्जीवप्रदेश-इत्याशंक्याह—'से पएसे धम्मे'त्ति, स च प्रदेशः सकलधर्मास्तिका-यादव्यतिरिक्तो न पुनस्तदेकदेशवृत्तिरित्यर्थ., शेषभावना पूर्ववत, से 'पएसे नोजीवे से पएसे नोखन्धे' इत्यत्रापि पूर्ववदेवार्थकथनम्। एवं वदन्तं समभिरूढं साम्प्रतमेवंभूतो भणति-यद्यद्धर्मास्तिकायादिकं वस्तु भणसि तत्तत् सर्वं समस्तं कृत्स्नं देशप्रदेशकल्पनारहितं प्रतिपूर्णम्-आत्म-स्वरूपेणाविकलं निरवशेषं-तदेवैकत्वान्निरवयवमेकग्रहणगृहीतम् एकाभिधाना भिधेयं नानाभिधानाभिधेयं, तानि ह्येकस्मिन्नर्थेऽसौ नेच्छति, अभिधानमे-

दे वस्तुभेदाभ्युपगमात्, तदेवंभूतं तद्धर्मास्तिकायादिकंवस्तु भण, नतु प्रदेशादिरूपतया, यतो देशप्रदेशौ ममावस्तुभूतौ, अखण्डस्यैववस्तुनः सत्त्वेनोपयोगात्, तथाहि-प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदो वा स्यादभेदो वा ? यदि प्रथमः पक्षस्तर्हि भेदेनोपलब्धिप्रसंगो, न च तथोपलब्धिरस्ति, अथाभेदस्तर्हि धर्मप्रदेशशब्दयो पर्यायतैव प्राप्ता, एकार्थविषयत्वात्, न च पर्यायशब्दयोर्युगपदुच्चारणं युज्यते, एकेनैव तदर्थप्रतिपादने द्वितीयस्य वैयर्थ्यात्, तस्मादेकाभिधानभिधेयं परिपूर्णमेकमेववस्त्विति, तदेवमेतेनिजनिजार्थसत्यताप्रतिपादनपरा विप्रतिपद्यन्ते नयाः, एते च परस्पर निरपेक्षा दुर्नयाः, सौगतादिसमयवत्, परस्परसापेक्षास्तु सुनयाः, तैश्चपरस्पर सापेक्षैः समुदितैरेव सम्पूर्णं जिनमतं भवति, नैकैकावस्थायाम्, उक्तं च स्तुतिकारेण—"उदधाविवसर्वसिन्धव, समुदीर्णास्त्वयि नाथ । दृष्टय न च तासु, भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥ १ ॥ एते च नया ज्ञानरूपास्ततो जीवगुणत्वेन यद्यपि गुणप्रमाणेऽन्तर्भवन्ति तथापि प्रत्यक्षादि प्रमाणेभ्यो नयरूपतामात्रेण पृथक् प्रसिद्धत्वाद्बहुविचार विषयत्वाज्जिनागमे प्रतिस्थानमुपयोगित्वाच्च जीवगुणप्रमाणात् पृथगुक्ता, तदेत् प्रदेशदृष्टांतेनेति निगमनम् । प्रस्थकादिदृष्टातत्रयेण च नयप्रमाणं प्रतिपाद्योपसहरति—तदेतन्नयप्रमाणमिति । अनेन च दृष्टांतत्रयेण दिग्मात्रदर्शनमेव कृतं, यावता यत्किमपि जीवादि वस्त्वास्ति तत्र सर्वत्र नयविचार. प्रवर्तते, इत्यलं बहुजल्पितेनेति ॥ १४५ ॥

अनुयोगद्वारसूत्र—मलधारीयावृत्तिः, प्रमाणद्वारम् ।

— — — —

अथ नयद्वारमभिधित्सुराह——

मूलः——से कि तं णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता, ।। तंजहा— णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूए, तत्थ—णेगेहि माणेहिं मिणइति णेगमस्स य निरुत्ती । सेसाणंपि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ।। १३६ संगहिअपिंडिअत्थं संगहवयणं समासओ विंति । वच्चइ विणिच्छिअत्थं ववहारो सव्व दव्वेसु ।। १३७ ।। पच्चु-प्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो । इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो ।। १३८ ।। वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नए समभिरूढे । वंजण अत्थ तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ।। १३६ ।।

टीका :— अथ कोऽयं पूर्वोक्त शब्दार्थो नयः ? तत्रोत्तरभेदापेनया सप्तैव मूलभूता नया. मूल नयाः, तद् यथा नैगम इत्यादि तत्र ।म व्याचिख्यासुराह—णेगेहिमित्यादि गाथा, व्याख्या—न एकं नैकं भूतानीत्यर्थः नैकैर्मानैः-महासत्तासामान्यविशेपादिज्ञानैर्मिमीते—मिनोति वा वस्तूनि परिच्छिनत्तीति नैगमः इतीयं नैगमस्य निरुक्तिः-

व्युत्पत्ति', अथवा निगमा—लोके वसामि तिर्यग्लोके वसामीत्यादय पूर्वोक्ता एव वहव: परिच्छेदास्तेषु भवो नैगमः, शेषाणामपि नयानां संग्राहादीना लक्षणमिदं शृणुत वक्ष्येऽहमिति गाथार्थ ॥ यथा प्रतिज्ञात-मेवाह "संगहिअ" गाहा, व्यख्या-सम्यग् गृहीत-उपात्त संगृहीत पिण्डित एकजातिमापन्नोऽर्थो विषयो यस्य सग्रहवचनस्य तत् सग्रहीतपिण्डितार्थं संग्रहस्यवचनं सग्रहवचनं 'समासत, सक्षेपतो ब्रुवतो तीर्थंकरगणधारा:, अयहि सामान्येमेवेच्छति न विशेषान्, ततोऽस्य वचन संगृहीतसामान्यार्थमेव भवति, अत एव सङ्गृह्णाति-सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु क्रोडीकरोतीति सग्रहोऽयमुच्यते, युक्ति श्चात्र लेशतः प्रागुदर्शितैव, "वच्चई" त्यादि, निराधिक्ये चयनं चय' पिण्डीभवनं अधिकश्चयो निश्चय -सामान्य विगतो निश्चयो विनिश्चयो—सामान्याभाव तदर्थ-तन्निमित्त व्रजति-प्रवर्तते, सामान्याभावायैव सर्वदा यतते व्यवहारो नय इत्यर्थः, क ? 'सर्व द्रव्येषु' द्रव्य विषये, लोके हि घट स्तम्भाम्भोरुहादयो विशेषा एव प्रायो जलाहरणादि क्रियासूपयुज्य-माना दृश्यन्ते न पुनस्तदतिरिक्त सामान्यम्, अतो लोकव्यवहारानङ्गत्वात् सामान्यमसौ नेच्छती ति भावः, अत एव लोकव्यवहार प्रधानोनयो व्यवहारनयोऽसावुच्यते, युक्तिश्चात्रापिलेशत प्रागुक्तैव, अथवा विशेषेण निश्चयो विनिश्च—आगोपालाद्यंगना (द्य) वबोधो न कतिपय विद्वत्सम्बद्ध: तदर्थ व्रजति व्यवहारनयः सर्व द्रव्येषु इदमुक्त भवति यद्यपि निश्चयेन घटादिवस्तूनि सर्वाण्यपि प्रत्येक पचवर्णानि द्वि-गंधानि पचरसान्यष्टस्पर्शानि तथाऽपि गोपालाङ्गनादीना यत्रैव कांचदे कस्मिन् स्थले कालनीलवर्णादौ विनिश्चयो भवति तमेवासौ सत्त्वेन

प्रतिपद्यते न शेषान्, लोकव्यवहारपरत्वादेवेति गाथोर्थः ॥ 'पच्चुप्पन्नं· गाहा' साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते वर्तमानकालभावीत्यर्थः, तद् ग्रहीतुं शीलमस्येति प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिर्मु णितव्य, तत्रातीतानागतयाभ्युपगमकुटिलतापरिहारेण ऋजु-अकुटिल वर्तमान काल भावि वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र, अतीतनागतयो विनाशानुत्पत्तिभ्यामसत्वात्, असदभ्युपगमश्च कुटिल इति भावः, अथवा ऋजु—अवक्रं श्रुतमस्येति ऋजुश्रुतः' शेषज्ञानैर्मु ख्यतया तथाविधपरोपकारासाधनात् श्रुतज्ञानमेवैक मिच्छतीत्यर्थः, उक्तंच-सुयनाणे अ निउतं केवलेतयाणंतरं । अप्पणो य परेसिं च, जम्हा तं परिभावगं ॥ छाया ॥ श्रुतज्ञाने च नियुक्तं (नियोक्तुं योग्यं) केवलेतदनन्तरम् । आत्मनश्च परेषाञ्च यस्मात्तत् परिभावकम् ॥१॥" त्ति, अयञ्च नयो वर्तमानमपीच्छन् स्वकीयमेवेच्छति. परकीयस्य स्वाभिमत कार्य्यसाधकत्वेन वस्तुतोऽसत्वादिति, अपरञ्च-भिन्न लिंगैर्भिन्नवचनैश्च शब्दैरेकमपि वस्त्वभिधीयते इति प्रतिजानीते-- यथा तट तटी तटमित्यादि, तथा गुरुगुवः इत्यादि, तथा इंद्रा- देर्नामस्थापनादिभेदान् प्रतिपद्यते, वक्ष्यमाणनयस्त्वतिविशुद्धत्वात् लिंगवचनभेदात वस्तुभेदं प्रतिपत्स्यते, नामस्थापनाद्रव्याणि च नाभ्युप- गमिष्यतीति भाव', इत्युक्त ऋजुसूत्र. ॥ अथ शब्द उच्यते-तत्र "शप आक्रोशे" शप्यते अभिधीयते वस्त्वनेनेति शब्दः, तमेव गुणीभूतार्थं मुख्यतया यो मन्यते स नयोऽप्युपचाराच्छब्दः, अयञ्च प्रत्युपत्पन्नं वर्तमान तदपि ऋजुसूत्राभ्युपगमापेक्षया विशेषितृतरमिच्छति, तथाहि तट- स्तटी तटमित्यादि शब्दानां भिन्नान्येवाभिधेयानि, भिन्नलिंगवृतित्वात्,

स्त्रीपुरुषनपुंस्क शब्दवदित्यसौप्रतिपद्यते, तथा गुरुर्गुरवः इत्यत्राप्याभिधेयभेद एव, भिन्नवचनवृत्तित्वात्पुरुषः पुरुषा इत्यादिवदिति, नामस्थापनाद्रव्यरूपाश्च नेन्द्राः, तत् कार्य्याकरणात खपुष्पवदिति प्राक्तनाद् विशुद्धत्वाद् विशेषिततरोऽस्याभ्युपगमः, समानलिंगवचनानां तु बहूनामपि शब्दानामेकमभिधेयमसौ मन्यते, यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादि इति गाथार्थ ॥ "वत्थूओ" इत्यादि, वस्तुनः— इद्रादेः सङ्क्रमणमन्यत्र शक्रादाविति दृश्यं, भवति अवस्तु अभवतीत्यर्थः, क्वेत्याह नये—समभिरूढे, समभिरूढनयमतेनेत्यर्थः, तत्र वाचकभेदेनापरापरान् वाच्यविशेषान् समभिरोहति समभिगच्छति प्रतिपद्यत इति समभिरूढ., अयमत्रभावर्थः—इंद्रशक्रपुरन्दरादिशब्दान् अनन्तरं शब्दनयेन एकाभिधेयत्वेनेष्टानसौ विशुद्धतरत्वात्, प्रत्येकं भिन्नाभिधेयान् प्रतिपद्यते, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सुरमनुजादि शब्दवत्, तथाहि—इन्दतीति इन्द्र शक्नोतीति शक्रः पुरं दारयतीति पुरदर, इह परमैश्वर्य्यादीनि भिन्नान्येवात्र प्रवृत्तिनिमित्तानि, एवमप्येकार्थत्वे अतिप्रसगो, घटपटादिशब्दानामप्येकार्थताऽऽपत्तेः, एवं च सति यदा इन्द्रशब्दः शक्रशब्देन सहैकार्थ उच्यते तदा वस्तुन परमैश्वर्य्यस्य शकनलक्षणे वस्त्वन्तरे संक्रमण कृतं भवति, तयोरेकत्वमापादितं भवतीत्यर्थ', तच्चासम्भवित्वादवस्तु, नहि य एव परमैश्वर्य्यपर्याय स एव शकनपर्यायो भवितुमर्हति, सर्वपर्यायसाङ्कर्यापत्तितोऽतिप्रसंगादित्यलं विस्तरेण, उक्तः समभिरूढः । 'वंजण अत्थे' त्यादि, यत् क्रियाविशिष्टं शब्देनोच्यते तामेवक्रिया कुर्वद् वस्त्वेवभूतमुच्यते, एवं यः शब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिकः—प्रकारस्तमेवभूत प्राप्तमितिकृत्वा, ततश्चैवंभूतवस्तुप्रति

पादको नयोऽप्युपचारादेवंभूत, अथवा एवं—य· शब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिकः प्रकारस्तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवंभूत—प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते, स एवं भूतोनय. किमित्याह व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्द अर्थस्तु तदभिधेयवस्तुरूप व्यञ्जनञ्चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभय चेति समासः व्यञ्जनार्थशब्दयोर्व्यस्तनिर्देश· प्राकृतत्वात्, तद्व्यञ्जनार्थतदुभयं विपयति-नैयत्येन स्थापयति, इदमत्र हृदयम्—शब्दमर्थेनार्थं च शब्देन विशेपयति, यथा "घट चेष्टायां" घटते योपिन्मस्तकाद्यारूढश्चेष्टते इति घट इति, अत्र तदेवासौ घटो यदा योपिन्मस्तकाद्यारूढतया जलाहरणचेष्टावान् नान्यदा, घटध्वनिरपि चेष्टां कुर्वत एव तस्य वाचकोनान्यादेत्येव चेष्टावस्थातोऽन्यत्र घटस्य घटत्वं घट शब्देन निवर्त्यते, घटध्वनेरपि तदवस्थातोऽन्यत्र घटेन स्ववाचकत्व निवर्त्त्यते इति भाव इति गाथार्थ ॥ उक्ता मूल नया एपाञ्चोत्तरोत्तरभेदप्रभेदा आवश्यकादिभ्योऽवसेयाः एते च सावधारणा सन्तो दुर्नया, अवधारणविरहितास्तु सुनया·, सर्वैश्च सुनयैर्मीलितै स्याद्वाद इत्यलं वहुभापितया ॥ अत्राह कश्चित्--ननूक्ता एते नया, केवलं प्रस्तुते किमेतै प्रयोजनमिति नावगच्छाम, उच्यते, उपक्रमेणोपक्रान्तस्य निक्षेपेण च यथासम्भव निक्षिप्तस्यानुगमेनानुगतस्य च प्रक्रान्तसामायिकाध्ययनस्य विचारणाऽमीपां प्रयोजनम । पुनरप्याह नन्वेपा नयैर्विचारण किं प्रतिसूत्रमभिप्रता सर्वाध्ययनस्य वा ? यद्याद्य· पक्ष· स न युक्त, प्रतिसूत्रं नयविचारस्य "न नया समोयरति इह" मित्यनेन निपिद्धत्वात, अथापर. पक्षः सोऽपि न युक्त, समस्ताध्ययन विपयस्यनयविचारस्य प्रागुपोद्घातनिर्युक्तौ

"नए समोयारणाणुमए" इत्यत्रोपन्यस्तत्वात्, न च सूत्रव्यतिरिक्त मध्ययनमस्ति यन्नयैर्विचार्य्येते, अत्रोच्यते, यस्तावतप्रतिसूत्रं नय-विचारनिषेध प्रेयेते तत्राविप्रतिपत्तिरेव, किं च—आसज्ज उ सोयार नए विसारओ वया ॥ छाया—आसाद्य तु श्रोतारं नयान् नय विशारदो ब्रूयात् इति, इत्यनेनापवादिक सोऽनुज्ञात एव, यदप्युच्यते-समस्ता-ध्ययनविपस्य नयविचारस्य प्रागुपोद्घाते" त्यादि, तन् समयानभि-ज्ञस्यैव वचनं, यस्मादिदमेव चतुर्थानुयोगद्वारं नयवक्तव्यताया मूल-स्थानम्, अत्र सिद्धानामेव तेषां तत्रोपन्यासः; यदप्युक्तं " नच सूत्र व्यतिरिक्तमध्ययन" मित्यादि, तदप्यसारंसमुदाय समुदायिनो कार्यादिभेदत कथञ्चिद्भेदसिद्धे, तथाहि—प्रत्येकावस्थायामनु-पलब्धमप्युद्वहन सामर्थ्यलक्षणं कार्य्य शिविकावाहकपुरुषसमुदाये उपलभ्यते, एवञ्च प्रत्येकसमुदितावस्थयो कार्य्यभेद शिविकावाह नादिषु सामर्थ्यासामर्थ्य लक्षणो विरुद्धधर्माध्यासश्च दृश्यते, यदि चाय मपि न भेदकस्तर्हि सर्वं विश्वमेक स्यात् ततश्च सहोत्पत्त्यादि प्रसङ्ग, तस्मात् कार्य्यभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च समुदाय समुदायिनोभेदं प्रतिपत्तव्यः, एवं सख्या सञ्ज्ञादिभ्योऽपि तद्भेदो भावनीय, तस्मात कश्चित क्वचित् सूत्र विषय समस्ताध्ययन विपश्च नय विचारो न दुष्यति, भवत्वेव तथा ऽप्यध्ययनं नयैर्विचार्य्यमाण किं सर्वैरेव विचार्यते ? आहोस्विद् कियद्भिरेव ? यदि सर्वैरिति पक्ष. स न युक्त,, तेषाम संख्येयत्वेन तैर्विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात्, तथाहि-यावन्तो वचन मागा स्तावन्त एव नया, यथोक्तम्—जावइया वयणप्पहा तावइया चेव होंति नयवाया ॥ जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ॥ १ ॥ छाया-

यावन्तो वचनपथास्तावन्तश्चैव भवन्ति नयवादाः । यावन्तो नय वादा स्तावन्तश्चैव पर समयाः ॥ १ ॥ नच निजनिजाभिप्राय विरचितानां वचनमार्गाणां संख्या समस्ति, प्रतिप्राणि प्रायोः भिन्नत्वादभिप्रायाणां, नापि कियद्‌भिरिति वक्तुं शक्यम्, अनवस्था प्रसङ्गात्, संख्यातोतेषु हि तेषु यावदेभिर्विचारणा क्रियते तावदेभिरपि किं नेत्यनवस्थाप्रेरणायां न नैयत्यावस्थापकं हेतु मुत्प श्यामः, अथापि स्यादसंख्येयत्वेऽप्येषां सकलनयसंग्राहिभिर्नयैर्विचारो विधीयते, ननु तेषामपि सग्राहिनयानामनेकविधत्वात् पुनरनवस्थैव, तथाहि-पुर्वविद्‌भिः सकलनयसग्राहीणि सप्तनयशतान्युक्तानि, यत् प्रतिपादकं सप्तशतारं नय चक्राध्ययनमासीद्, उक्तञ्च, एक्केक्को य सयविहो सत्त नय सया हवंति एवमेवेत्यादि, छाया—एकैकश्च शतविध. सप्तशतानि नया भवन्ति, एवमेव, सप्तानां च नयशतानां संग्राहकाः पुनरपि विध्यादयो द्वादशनयाः यत् प्ररूपकमिदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति, एतत् संग्राहिणोऽपि सप्तनैगमादि नया, तत् संग्राहिणौ पुनरपिद्रव्यपर्यायास्तिकौ नयौ ज्ञानक्रियानयौ वा निश्चय व्यवहारौ वा शब्दार्थनयौवेत्यादि, इति संग्राहक नयानामप्यनेकविधत्वाद् सैवा-नवस्था, अहो अति निपुणमुक्तं, किन्तु प्रक्रान्ताध्ययने सामायिकं विचार्यते, तच्चमुक्तिफलं ततो यदेवास्य मुक्तिप्राप्तिनिबंधनरूपं तदेव विचारणीयं, तच्चज्ञानक्रियात्मकमेव, ततो ज्ञानक्रियानयाभ्यामे वास्य विचारो युक्ततरो नान्यै ॥ तत्र ज्ञाननयो ज्ञानमेव मुक्तिप्रापक तया प्रतिजानीते, ततस्तन्मताविष्करणार्थमाह—

मूलः—णायंमि गिण्हिअव्वे अगिण्हिअव्वंमि चेव

अत्थमि। जइअव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नाम ॥१४०॥ सव्वेसिंपि नयाणं वहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता। तं सव्व नयविसुद्धं जं चरण गुणट्ठिओ साहु ॥१४१॥ से तं नए। अणुओगद्दारा सम्मत्ता (सू० १५२)

टीका:—"ज्ञाते" सम्यग्-अवगते । गिण्हियव्वे" ग्रहीतव्ये उपादेय इत्यर्थ "अग्रहीतव्ये" अनुपादेये, सच हेय उपेक्षणीयश्च द्वयोरप्यग्रहणाविशेषात्, च शब्द उक्त समुच्चये, अथवा अग्रहीतव्य शब्देन हेय एवैको गृह्यते उपेक्षणीयं त्वनुक्तमप्ययमेव चकार ममुच्चिनोति, एवो गाथालकारमात्रे, "अत्थमित्ति "अर्थे" ऐहिकामुष्मिके, तत्र ऐहिको ग्रहीत्तव्य स्रक्- चन्दनाङ्गनादि अग्रहीतव्योऽहिविषकण्टकादिरुपेक्षणीयस्तृणादि, आमुष्मिको ग्रहीतव्य-सम्यगदर्शनचारित्रादि अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वादिरुपेक्षणीयस्तुस्वर्गविभूत्यादि, एवंभूतेऽर्थे यतितव्यमेवेति, अत्रैव कारोऽवधारणे, तस्य च व्यवहित प्रयोगः तद् यथा ज्ञात एवेति, तदयमर्थो- ग्राह्याग्राह्योपेक्षणीयेऽर्थे ज्ञात एव तत् प्राप्तिपरिहारोपेक्षार्थिना यतितव्यं, प्रवृत्यादि लक्षण. प्रयत्न. कार्य्य इति, "इति" एवभूत सर्वव्यवहाराणां ज्ञान निवन्धनत्व प्रतिपादनपरो य उपदेशः स किमित्याह-" नय" इति प्रस्तावाज् ज्ञाननयो "नामेति। शिष्यामंत्रणे इत्यक्षरघटना ॥ भावार्थस्त्वयम्—इह ज्ञाननयोज्ञानप्राधान्यख्यापनार्थं प्रतिपादयति-नन्वैहिकामुष्मिकफलार्थिना तावत्सम्यग्विज्ञात एवार्थे प्रवर्तितव्यम्, अन्यथा प्रवृत्तौ फलविसंवाददर्शनाद् आगमेऽपि च प्रोक्तं-पढम नाणं तओदए"

त्यादि, जंअन्नाणी कम्म खवेई, त्यादि, तथा अपरमप्युक्तम् । पावाओ विणियत्ती पवत्तणा तह य कुसल पक्खंमि । विणयस्स य पडिवत्ती तिन्निवि नाणेसमप्पति ॥ १ ॥ छाया ॥ पापाद्विनिवृत्ति प्रवर्तना तथा च कुशलपक्षे । विनयस्य च प्रतिपत्तिस्त्रीण्यपि ज्ञानात् समाप्यन्ते ॥१॥ तथान्यैरप्युक्तं-"विज्ञप्ति फलदा पुंसा न क्रिया फलदा मता । मिथ्या ज्ञानात्प्रवृत्तस्य फलासंवाददर्शनात् ॥ १ ॥ इति, इतश्च ज्ञानस्यैव प्राधान्य यतस्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारोऽपि निषिद्ध, तथा च तद् वचनम्—' गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसिओ भणिओ । इत्तो तइयविहारो नाणुन्नाओ जिणवरेहि ॥ छाया—गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रितो भणित । एताभ्यां तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरै ॥१॥ न यस्मादन्धेनान्ध समाकृष्यमाण सम्यक् पंथानं प्रतिपद्यत इतिभाव, एव तावत् क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तं, क्षायिकमप्यङ्गी कृत्य विशिष्टफलसाधकत्व तस्यैव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षा प्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्ग प्राप्ति संजायते यावदखिल जीवादि वस्तुस्तोमसाक्षात्करणदक्षं केवलज्ञानं नोत्पन्न, तस्माज्ज्ञानमेव पुरुषार्थसिद्धेर्निबन्धन, प्रयोगश्चात्र यद् येन विना न भवति तत्तन्निबन्धनमेव, यथा बीजाद्यविनाभावी तीन्नबन्धन एवाङ्कुरो, ज्ञानाविनाभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति, ततश्चायं नयश्चतुर्विधे सामायिके सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिके एवाभ्युपगच्छति, ज्ञानात्मकत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात , देशविरतिसर्वविरति सामायिके तु नेच्छति, ज्ञान कार्यत्वेन गौणत्वात् तयोरिति गाथार्थ ॥ विचारितं

ज्ञाननयमतेन सामायिकम, अथ क्रियानयमतेन तद् विचार्यते-तत्रासौ क्रियैव सकलपुरुषार्थसिद्धेः प्रधानं कारणमिति मन्यमानो ज्ञाननय मतव्याख्यातामेवमेवगाथामाह—"नायम्मी" त्यादि, इय च क्रियानय मतेनेत्थव्याख्यायते—इह ज्ञाते ग्रहीतव्ये अग्रहीतव्ये चैवार्थे सर्वामपि पुरुषार्थसिद्धिमभिलषता यतितव्यमेवप्रवृत्यादिलक्षणा क्रियैव कर्तव्येति, एवमत्र व्याख्याने एवकारः स्वस्थान एव योज्यते, एवचमति ज्ञातेऽप्यर्थे क्रियैव साध्या, ततो ज्ञान क्रियोपकरणत्वाद्गौणमित्यत सकलस्यापि पुरुषार्थस्य क्रियैव प्रधान कारणमित्येव य उपदेश स नय प्रस्तावात् क्रियानय', शेषपूर्ववत् । अयमपि स्वपक्षसिद्धये युक्तीरुद्भावयति— ननु क्रियैव प्रधान पुरुषार्थसिद्धिकारण, यत आगमेऽपि तीर्थकरगणधरै क्रिया विकलाना ज्ञान निष्फलमेव उक्तं, सुबहुपि सुयमहीयं किं काही चरण विमुक्कस्स । अन्धस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्स कोडीवि ॥ १ ॥ छाया—सुबहपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति चरण विप्रमुक्तस्य । अंधस्य यथा प्रदीप्ता दीपशत् सहस्रकोट्यपि ॥ नाण सविसयनियय न नाण मित्तेण कज्ज निप्फत्ती, मग्गण्णू दिट्ठतो होइ सचिट्ठो अचिट्ठो य ॥ ।२। छाया—ज्ञान स्वविषय नियत न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्ति । मार्गज्ञो दृष्टान्तोभवति सचेष्टोऽचेष्टश्च ॥ २ ॥ जाणतोऽविय तरिउ काइयजोगं न जुंजई जो । सो वुज्झइ सोएण एव नाणी चरणहीणो । ३ ॥ छाया--जानन्नपि तरीतु कायिकयोग न युनक्ति यस्तु । स उह्यते स्रोतसा एव ज्ञानी चरणहीन ॥ ३ ॥ जहा खरो चंदण भारवाही " इत्यादि, छाया--यथा खरश्चन्दन भारवाही" इत्यादि, तथा अन्यैरप्युक्तम्—' क्रियैव फलदा पुसा न ज्ञान फलद मतम । यत स्त्रीभक्ष्य भोगज्ञो न ज्ञानात्सु खितोभवेद् ॥१॥ इति एव तावत् क्षायोपशमिकीं चरणक्रियामङ्गीकृत्य

प्राधान्यमुक्तम्। अथ क्षायिकीमप्याश्रित्य तस्या एव प्राधान्यमवसेयम्। यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्न केवलज्ञानस्यापि न तावत् मुक्त्यावाप्तिः संपद्यते यावदखिलकर्मेन्धानानल ज्वाला कलापरूपायां शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवररूपां चारित्र क्रियां न प्राप्नोति तस्मात् क्रियैव प्राधाना सर्व पुरुपार्थ सिद्धि कारणं, प्रयोगश्चात्र यद्यत्समनान्तरभावि तत्तत् कारणं यथा अन्त्यावस्था प्राप्त पृथिव्यादिसामग्रथनन्तरभावी तत् कारणोऽङ्कुर क्रियानन्तरभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति, ततश्चैप चतुर्विधेसामायिके देशविरति सर्व विरतिसामायिके एव मन्यते, क्रियारूपत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्व श्रुतसामायिके तु तदुपकारित्वमात्रतो गौणत्वान्नेच्छति इति गाथार्थ ॥ ननु पक्षद्वयेऽपि युक्तिदर्शनात् किमिह तत्त्वमिति न जानीम इति शिष्यजनसम्मोहमाशक्यज्ञानक्रियानयमतप्रदर्शनानन्तरं स्थित पक्षं दर्शयन्नाह—

"सव्वेसिंपिगाहा, न केवलमनन्तरोक्त नयद्वयस्य' किं तर्हि ? सर्वेपामपि' स्वतन्त्रसामान्यविशेपवादीनां नामस्थापनादिवादीना वा नयानां "वक्तव्यतां" परस्परविरोधिनी प्रोक्ति "निशम्य" श्रुत्वा तदिह "सर्वनयविशुद्ध" सर्वनयसम्मत तत्त्वरूपतया ग्राह्यं, यत् किमत्याह— यच्चरण गुणस्थित' साधु' चरण चारित्रक्रिया गुणोऽत्रज्ञानं तयोस्तिष्ठतीति चरणगुणस्थ, ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यामपि युक्त एव साधुः मुक्तिसाधको न पुनरेकेन केनचिदितिभावः, तथाहि-यत्तावज्ज्ञानवादिनाप्रोक्तं-यद्येन विना न भवति तत्तन्निबन्धमेवेत्यादि, तत्र तदविनाभावित्त्वलक्षणो हेतुरसिद्ध एव, ज्ञानमात्राविनाभाविन्याः पुरुपार्थसिद्धेः क्वाप्यदर्शनात् न हि

दाह पाकाद्यर्थिना दहन परिज्ञानमात्रादेव तत् सिद्धिर्भवति, किन्तु तज्ज्वा-नयनसंधुक्षणज्वालादिक्रियानुष्ठानादपि, न च तीर्थकरोऽपि केवलज्ञान मात्रान्मुक्तिं साधयति, किन्तु यथाख्यात चारित्रक्रियातोऽपि , तस्मात् सर्वत्र ज्ञानक्रियाविनाभाविन्येव पुरुषार्थसिद्धिः, ततस्तदविनाभावित्वलक्षणो हेतुर्यथा पुरुषार्थसिद्धेर्ज्ञाननिबन्धनत्व साधयति तथा क्रियानिबन्धनत्वमपि, तामप्यन्तरेण तदसिद्धेरित्यनैकान्तिकोऽप्यसाविति, एवं क्रिया वादिनापि यद्यत्समनन्तरभावि तत्तत् कारणमित्यादि प्रयोगे यस्तदनन्तरभावित्त्वलक्षणो हेतुरुक्तः सोऽप्यसिद्धो नैकान्तिकश्च तथाहि-स्त्री भक्ष्य भोगादिक्रिया कालेऽपि ज्ञानमस्ति तदन्तेरणतत्र प्रवृत्तेरेवायोगात् , एव शैलेश्यवस्थाया सर्व सवर रूप क्रिया कालेऽपि केवलज्ञानमस्ति, तदन्तरेण तस्या ग्वाप्राप्तेः, तस्मात् केवल क्रियानन्तर भावित्वेन पुरुषार्थस्य काप्यसिद्धेर सिद्धो हेतु , यथा च तदनन्तरभावित्वलक्षणो हेतुः क्रियाकारणत्वं मुक्त्यादि पुरुषार्थस्य साधयति तथा ज्ञानकारणत्वमपि, तदप्यन्तरेण तस्य कदाचिदप्यभावातदित्यनैकान्तिकताऽप्यस्येति, तस्मात् ज्ञान क्रियोभयसाध्यैव मुक्त्यादि सिद्धिः, उक्तञ्च-हय नाणं कियाहीणं हया अन्नाणओ किया। पासतो पंगुलोदढ्ढो धावमाणो य अधओ ॥ १॥ छाया—हतं ज्ञान क्रिया हीन हता अज्ञानत. क्रियापश्यन् पंगुर्दग्धो धावश्चान्ध ॥ सयोग सिद्धी अ फलं वयति नहु एग चक्केण रहो पयाइ । अंधो य पंग य वणे समेच्चा, ते सपउत्ता नयर पविट्ठा ॥ २ ॥ छाया—संयोग सिद्ध्याफल फलं वदति नैवैक चक्रेण रथः प्रयाति, अन्धश्च पंगुश्च वने समेत्य तौ सम्प्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ ॥ २ ॥ इत्यादि, अत्राह नन्वेवं ज्ञान क्रिययोर्मुक्त्यसाधिका शक्तिः प्रत्येकमसती समुदायेऽपिकथंस्यात ?

नहि यद्येषु प्रत्येकं नास्ति तत्तेषुसमुदितेष्वपि भवति, यथा प्रत्येक मसत् समुदितेष्वपि सिकताकरणेषु तैलं, प्रत्येकमसती च ज्ञानक्रिययोर्मुक्त्यवापिका शक्तिः, उक्तञ्च —पत्तेयमभावाओ । निव्वाणं समुदियासुवि न जुत्तं । नाण किरियासु वोत्तुं सिकता समुदाय तेल्लं व ॥१॥ छाया—प्रत्येकमभावान्निर्वाणं समुदितयोरपि न युक्तम् । ज्ञान क्रिययोर्वक्तुं सिकता समुदाय तैलमिव ॥ १ ॥ उच्यते, स्यादेतत्, यदि सर्वथा प्रत्येकं तयोर्मुक्त्यनुपकारिताऽभिधीयेत यदा तु तयो प्रत्येकं देशोपकारिता समुदाये तु सपूर्ण हेतुता तदा न कश्चिद्दोषः, आह च वीसुं न सव्वहच्चिय सिकता तेल्लं व साहणाभावो । देसोवगारिया जा सा समवायं मि सपुण्णा ॥ छाया —विष्वक् न सर्वथैव सिकता तैलवत् साधनाभाव. । देशोपकारिता या सा समवाये सम्पूर्णा ॥१॥ अतः स्थितमिदं-ज्ञान क्रिये समुदिते एव मुक्ति कारणं न प्रत्येकमिति तत्त्वम् । तथा च पूज्या —नाणाहीणं सव्व नाण नओ भणइ किं च किरियाए ? । किरियाए चरण नओ तदुभयगाहो य सम्मत्त ॥१॥ ज्ञानाधीनं सर्वं ज्ञाननय भणति किं च क्रियया । क्रियया (अधीनं) चरण न यस्तदुभय ग्राहश्च सम्यक्त्वम ॥ १ ॥ तस्माद् भाव साधु सर्वैरपि नयैरिष्यत एव, स च ज्ञान क्रिया युक्त एवेत्यता व्यवस्थितमिद —तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरण गुण व्यवस्थित साधुरिति ॥ तदेव समर्थित नय द्वारं तत्समर्थने च समर्थितानि चत्वार्यप्युपक्रमादीनि द्वाराणि, तत् समर्थने च चानुयोग द्वारशास्त्रं समाप्तम ।

अथश्रुतनिश्रितम्

मूलः— से किं तं सुअनिस्सिअं ? २ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा उग्गह १ ईहा २ अवाओ ३ धारणा ४ (सू० २७)

टीका :—"से किं तं" मित्यादि, अथ किं तच्छ्रुतनिश्रितं मतिज्ञानम् ? गुरुराह—श्रुतनिश्रतं मतिज्ञानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा अवग्रह ईहा अपायो धारणा च, तत्र अवग्रहणमवग्रह अनिर्देश्यसामान्य मात्ररूपार्थग्रहणमित्यर्थ, यदाह चूर्णिकृत् " सामन्नस्सरुवादि विसेसण रहियस्स अनिद्देसस्स अवग्गहणमवग्गह" इति । तथा ईहनमीहा, सद्भूतार्थ पर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थ, किमुक्त भवति—अवग्रहादुत्तर कालमवायात्पूर्व सद्भूतार्थ विशेषोपादानाभिमुखोऽसदभूतार्थ विशेष परित्यागाभिमुख. प्रायोऽत्र मधुरत्वादय शंखादि शब्दधर्म्मा दृश्यन्ते न खरकर्क्केश निष्ठुरतादय शार्ङ्गादि शब्दधर्म्मा इत्येवरूपो मतिविशेष ईहा,- आहच भाष्यकृत- " भूयाभूय विसेसादाणच्चायाभिमुहमीहा" तथा तस्यैवा व प्रहीतस्येहितस्यार्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवाय शाख एवायं शार्ङ्ग एवा (व वा) यमित्यादि रूपोऽवधारणात्मक प्रत्ययोऽवाय इत्यर्थ तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धरण धारणा. साच त्रिधा—अविच्युतिर्वासना स्मृतिश्च, तत्र तदुपयोगादविच्यवनमविच्युति साचान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा,

ततस्तयाऽऽहितो यः संस्कारः स वासना, सा च संख्येयमसंख्येयं वा कालं यावद् भवति, ततः कालान्तरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादि कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यज् ज्ञानमुदयते-तदेवेदं यत् मया प्राग् उपलब्धमित्यादि रूपं सा स्मृतिः, उक्तञ्च तदनतरं तदत्थाविच्चवणं जो उ वासणा जोगो । कालंतरेण जं पुण अनुसरण धारणा सा उ ॥ १ ॥ छाया—तदनन्तरं तदर्थ विच्यवन यस्तु वासना योग । कालान्तरे यत् पुनरनुस्मरणं धारणा सा तु ॥ १ ॥ एताश्चाविच्युतिवासनास्मृतयो धारणालक्षण सामान्यान्यर्थयोगाद् धारणा शब्द वाच्या ॥

मूलः—से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-अत्थुग्गहे अ वंजणुग्गहे अ (सू० २८)

टीका :—"से किं त" मित्यादि; अथ कोऽयमवग्रहः ? सूरिराह अवग्रहो द्विविधा प्रज्ञप्त तद्यथा—अर्थावग्रहश्च व्यञ्जनावग्रहश्च, तत्र अर्य्यते इत्यर्थः. अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः—सकल रूपादिविशेष निरपेक्षा निर्देश्यसामान्यमात्र रूपार्थ ग्रहणमेकसामायिकमित्यर्थः, तथा व्यज्यते अनेनार्थऽप्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जन, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणत द्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थ शब्दादि रूप श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यञ्जयितु शक्यते, नान्यथा, तत सम्बन्धो व्यञ्जनं, तथाचाह भाष्यकृत्—"वंजिज्जइ जेणऽथो घडोव दीवेण वंजण तं च । उवगरणिंदिय सद्दाइ परिणयदव्व संबधो ॥ १ ॥ छाया—व्यज्यते येनार्थो घट इव दीपेन व्यञ्जनं तच्च । उपकरणेन्द्रिय शब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बध ॥ १ ॥ व्यञ्जनेन—सम्बन्धेनावग्रहण—

सम्बध्यमानस्य शब्दादि रूपस्यार्थस्याव्यक्तरूप परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रह., अथवा व्यज्यते इति व्यञ्जनानि, 'कृद्‌बहुल' मिति वचनात् 'कर्मण्यनट्' व्यञ्जनानां शब्दादिरूपतयापरिणताना द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रह - अव्यक्तरूप. परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रह, व्यज्यतेऽनेनार्थ प्रदीपेनेव घटः इति व्यञ्जनं-उपकरणेन्द्रियं तेन स्वसम्बद्धस्यार्थस्य—शब्दादेरवग्रहणम्—अव्यक्तरूप. परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः, इयमत्र भावना—उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथम समयादारभ्यार्थावग्रहात् प्राक् या सुप्तमत्तमूर्च्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्र विषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाण । अत्राह —ननु व्यञ्जनावग्रहवेलायां न किमपि संवेदन संवेद्यते, तत् कथमसौ ज्ञानरूपो गीयते ? उच्यते, अव्यक्तत्वान्न संवेद्यते, ततो न कश्चिद्दोष, तथाहि—यदि प्रथमसमयेऽपि शब्दादिपरिणतद्रव्यैरुपकरणेन्द्रियस्य सम्प्रक्तौ काचिदपि न ज्ञानमात्रा भवेत्. ततो द्वितीयेऽपि समये न भवेत्, विशेषाभावात्, एवं यावच्चरमसमयेऽपि, अथ च चरमसमये ज्ञानमर्थावग्रहरूपं जायमानमुपलभ्यते, तत प्रागपि कापि कियती ज्ञान मात्रा द्रष्टव्या, अथ मन्येथा —माभूत् प्रथमसमयादिषु शब्दादिपरिणत द्रव्य सम्बन्धेऽपि काचिदपि ज्ञानमात्रा, शब्दादिपरिणतद्रव्याणां तेषु समयेषु स्तोकत्वात, चरमसमये तु भविष्यति, शब्दादिरूपपरिणतद्रव्य समूहस्य तदानीं भूयसो भावात्, तदयुक्तं, यतो यदि प्रथमसमयादिषु शब्दादिद्रव्याणा स्तोकत्वात् सम्पृक्तावव्यक्ताऽपि काचिदपि ज्ञानमात्रा न समुल्लसेत्, तर्हि प्रभूतसमुदायसम्पर्केऽपि न भवेत , न खलु सिकता

कणेषु प्रत्येकमसति तैललेशे समुदायेऽपितैलं समुद्भवदुपलभ्यते, अस्ति च चरमसमये प्रभूतशब्दादिद्रव्यसम्पृक्तौ ज्ञानं तत प्राक्तने ष्वपि समयेषु स्तोकस्तोकतरैरपि शब्दादिपरिणतद्रव्यै सम्बन्धे काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्राऽभ्युपगंतव्या, अन्यथा चरमसमयेऽपि ज्ञानानुपपत्तेः तथा चोक्तं—"जं सव्वहा न वीसुं सव्वेसुवि तं न रेणुतेलंव। पत्तेयमणिच्छंतो कहमिच्छसि समुदये नाणं ॥१॥ छाया— यत् सर्वथा न विष्वक् सर्वेष्वपि नत् न रेणुतैलवत्। प्रत्येकमनिच्छन् कथमिच्छसि समुदाये ज्ञानम् ॥ १ ॥ ततः स्थितमेतत्-व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानरूपः केवल तेषु ज्ञानमव्यक्तमेव वोद्धव्य। च शब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ। ते च स्वागता अनेक भेदो अग्रे स्वयमेव सूत्रकृता वर्णयिष्यन्ते, आह—प्रथमं व्यञ्जनावग्रहो भवति ततोऽर्थावग्रह, तत कस्मादिह प्रथममर्थावग्रह उपन्यस्तः ?, उच्यते, स्पष्टतयोपलभ्यमानत्वात्, तथाहि—अर्थावग्रहः स्पष्टरूपतयासर्वैरपि जन्तुभि संवेद्यते, शीघ्रतरगमनादौ सकृत् सत्वरमुपलम्भे मया किञ्चिद दृष्टं परं न परिभावितं सम्यगिति, व्यवहारदर्शनात्, अपि च-अर्थावग्रहः सर्वेन्द्रियमनोभावी व्यञ्जनावग्रहस्तु नेति प्रथममर्थावग्रहः उक्त ॥ सम्प्रतितु व्यञ्जनावग्रहाद् ऊर्ध्वमर्थावग्रह इति क्रममाश्रित्य प्रथमं व्यञ्जनावग्रह स्वरूपं प्रतिपिपादयिषु शिष्य प्रश्नं कारयति—

मूल :—"से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउविहे पण्णत्ते, तंजहा सोइंदिअ वंजणुग्गहे घाणिंदिय वंजणुग्गहे जिब्भिंदिय वंजणुग्गहे फासिंदिअ वंजणुग्गहे। से तं वंजणु-

ग्गहे (सू २६)

टीका :—'से किं तं' मित्यादि, अथ कोऽयं व्यञ्जनावग्रह ? आचार्य आह- व्यनञ्जावग्रहश्चतुर्विध प्रज्ञप्त, तद्यथा- "श्रोत्रेन्द्रय-व्यञ्जनावग्रह" इत्यादि अत्राह-सत्सु पञ्चस्विन्द्रियेषु पष्ठे च मनसि कस्मादयं चतुर्विधो व्यावर्ण्यते ?, उच्यते, इह व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिद्रव्याणाञ्च परस्पर सम्बन्ध उच्यते सम्बन्धश्चतुर्णामेव श्रोत्रेन्द्रियादीना, न नयनमनसो तयोरप्राप्यकारित्वात्, आह-कथमप्राप्यकारित्व तयोरवसीयते ? उच्यते विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात , तथाहि-यदि प्राप्तमर्थं चक्षुर्मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेन्द्रिय स्रक् चन्दनादिक अङ्गारादिक च प्राप्तमर्थं परिच्छिन्दत्ततकृतानुग्रहोपघातभाग् भवति तथा चक्षुर्मनसी अपि भवेता विशेषाभावात न च भवत तस्मादप्राप्यकारिणी ते, ननु दृश्यते एव चक्षुषोऽपि विषयकृतानुग्रहोपघातौ, तथाहि-घनपटलविनिर्मुक्ते नभसि स्फुरतो निविडजरटिमोपेत-कर प्रसरमभिसर्प्यन्तमशुमालिनमनवरतमवलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघात, शशाङ्ककरकदम्बक यद्वा तरङ्गमालोपशोभित जल तरुमण्डलञ्च शाद्वल निरतर निरीक्षमाणस्य चानुग्रह, तदेतदपरिभावितभाषित, यतो न वय सर्वथा विषयकृतानुग्रहोपघातौ न भवत, किन्त्वेतावदेव ब्रूमो—यदा विषय विषयतया चक्षुरवलम्बते तदा ततकृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि, शेषकाल तु प्राप्तेनाप्यानेनोपघातो भविष्यति स्पर्शनेन चानुग्रह, तत्रांशुमालिनो रश्मय सर्वत्रापि प्रसरमुपलभाना यदाऽशुमालिन सम्मुखमीक्षते तदा ते चक्षुर्देशमपि प्रा-

प्नुवन्ति ततश्चक्षु सम्प्राप्तास्ते स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरुपघ्नन्ति, शीतांशुरश्मयश्च स्वभावत एव शीतलत्वादनुग्राहकाः, ततस्ते चक्षुःसम्प्राप्ताः सन्तस्ते स्पर्शनेन्द्रियमिव चक्षुरनुगृह्णन्ति, तरंगमालासंकुलजलावलोकने च जलकणसपृक्तसमीरावयवसंस्पर्शतोऽनुग्रहो भवति, शाड्वलतरुमण्डलावलोकनेऽपि शाड्वलतरुच्छाया सम्पर्कशीतीभूतसमीरणसंस्पर्शात्, शेषकालं तु जलवालोकनेऽनुग्रहाभिमान उपघाताभावादवसेय., भवति चोपघाताभावेऽनुग्रहाभिमानो यथाऽतिसूक्ष्माक्षरनिरीक्षणाद् विनिवृत्य यथासुखं नीलीरक्तवस्त्राद्यावलोकने, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्य अन्यथा समाने सपर्के यथा सूर्यमीक्षमाणस्य सूर्येणोपघातो भवति तथा हुतवहजलशूलाद्यालोकने दाहक्लेदपाटनादयोऽपि कस्मान्न भवन्तीति ? । अपि च यदि चक्षु प्राप्यकारि तर्हि स्वदेशगतरजोमलाञ्जनशिलाकादिकं किं न पश्यति ?, तस्मात्प्राप्यकार्येवचक्षु । ननुयदि चक्षुरप्राप्यकारितर्हि मनोवत कस्मादविशेषेण सर्वानपि दूर व्यवहितादीनर्थान् न गृह्णाति ? यदि हि प्राप्तेपरिच्छिन्द्यात्तर्हि यदेवानावृत्तमदूरदेशं वा तदेव गृह्णीयात् नावृत्तं दूरदेशं वा, तत्र चक्षुरश्मीनां गमनासंभव सम्पर्काभावात्, ततो युज्यते चक्षुषो ग्रहणाग्रहणे, नान्यथा, तथाचाक्तं—प्राप्यकारिचक्षु उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरनावरणेनरानपेक्षणात् अदूरेतरापेक्षणाच्च" यदि हि चक्षुरप्राप्यकारि भवेत्तदाऽऽवरणभावाद्नुपलब्धिः अन्यथोपलब्धिरिति स्यात , नहि तदावरणमुपघातकरणसमर्थं, प्राप्यकारित्वे तु मूर्त्तद्रव्यसंनिधानाद् उपपत्तिमान व्याघातोऽनिदूरे च गमनाभावादिति, प्रयोगश्चात्र—न चक्षुरविषयपरिमाणं, अप्राप्यकारित्वात् मनोवत् तदेतदयुक्ततरम

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, न खलु मनोऽप्यशेषान् विषयान् गृह्णाति, तस्यापि सूक्ष्मेष्वागमगम्यादिष्वर्थेषु मोहदर्शनात्, तस्माद् यथा मनोऽप्राप्यकार्यपि स्वावरणक्षयोपशमसापेक्षत्वात् नियतविषय तथा चक्षुरपि स्वावरणक्षयोपशमसापेक्षत्वदप्राप्यकार्यपि योग्यदेशावस्थितनियतविषयमिति न व्यवहितानामुपलम्भप्रसङ्गो नापि दूरदेशस्थितानामिति। अपिच दृष्टमप्राप्यकारित्वेऽपि तथास्वभावविशेषाद्योग्यदेशापेक्षण, यथाऽयस्कान्तस्य न खल्वयस्कान्तोऽयसोऽप्राप्यकारेण प्रवर्तमान सर्वस्याप्ययसो जगद्वर्तिन आकर्षको भवति, किन्तु प्रतिनियतस्यैव, (यत्तु) शङ्करस्वामी प्राह— "अयस्कान्तोऽपि प्राप्यकारी, अयस्कान्तच्छायाणुभिः सह समाकृष्यमाण वस्तुन सम्बन्धभावात्, केवल ते छायाणव सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते" इति तदेतदुन्मत्तप्रलपितु, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, नहि तत्र छायाणुसम्भवग्राहकं प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकं प्रतिपत्तु शक्नुम., अथास्ति ग्राहक प्रमाणमनुमान, तथ यदाकर्षण तत् संसर्गपूर्वकं यथाऽयो गोलकस्य सन्दशेन आकर्षणं चायसोऽयस्कान्तेन. तत्र साक्षादयस्कान्ते ससर्गः प्रत्यक्षबाधित इत्यर्थात् छायाणुभि सह द्रष्टव्य इति, तदपि बालिशजल्पित, हेतोरनैकान्तिकत्वात् मन्त्रेण व्यभिचारात् तथाहि—मन्त्र स्मर्यमाणोऽपि विवक्षित वस्त्वाकर्षति न च तत्र कोऽपि ससर्ग इति अपिच—यथा छायाणव प्राप्तमय समाकर्षन्ति तथा काष्ठादिकमपि प्राप्त कस्मान्नाकर्षन्ति!, शक्तिप्रतिनियमादिति चेत ननु स शक्तिप्रति नियमोऽप्राप्तावपि तुल्य एवेति व्यर्थ छायाणुपरिकल्पन। अन्यस्त्वाह—अस्ति चक्षुष प्राप्यकारित्वे व्यवहितार्थानुपलब्धिरनुमान प्रमाण. तदयुक्त, अत्रापि हेतोरनैकान्तिकत्वात्. काचाभ्रपटलस्फटिकैरन्तरितस्याप्युपलब्धे, अर्थस्या

चक्षीथा —नायना रश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति, नायनाश्च रश्मयस्तैज-सत्वान्न तेजोद्रव्यैः प्रतिस्खल्यन्ते, ततो न कश्चिद्दोष, तदपि न मनोरमं महाज्वालादौ स्खलनोपलब्धेः, तस्मादप्राप्यकारि चक्षुरिति स्थितं ॥ एवं मनसोऽप्राप्यकारित्वं भावनीयं, तत्रापि विषय कृतानुग्रहोपघाताभावाद्, अन्यथा तोयादिचिन्तायामनुग्रहोऽग्निशस्त्रादिचिन्तायांचोपघातो भवेत्, ननु दृश्यते मनसोऽपि हर्षादिभिरनुग्रह, शरीरोपचयदर्शनात्, तथाहि—हर्षप्रकर्षवशान्मनसोऽपि पुष्टता भवति, तद्वशाच्च स्वशरीरस्योपचयः, तथोपघातोऽपि शोकादिभिर्दृश्यते, शरीरदौर्बल्योरक्षतादिदर्शनात्, अतिशोककरणतोहि मनसो विघात सम्भवति ततस्तद् वशाच्छरीर दौर्बल्य-मतिचिन्तावशाच्च हृद्रोग इति, तदेतदतीवासम्बद्धं यत इह मनसोऽप्राप्यका-रित्वं साध्यमानं वर्तते, विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, न चेह विषयकृता-नुग्रहोपघातौ त्वयामनसोदर्श्येते तत कथं व्यभिचार ?, मनस्तु स्वयं पुद्गल मयत्वाच्छरीरस्यानुग्रहोपघातौ करिष्यति, यथेष्टानिष्टरूप आहार, तथाहि-इष्टरूप आहार परिभुज्यमानः शरीरस्यपापमाधत्ते, अनिष्टरूपस्तूपसंघातं (स्तूपघातं), तथा मनोऽप्यनिष्टपुद्गलोपचितमति शोकादिचिन्तानिब न्धन शरीरस्य हानिमादधाति, इष्टपुद्गलोपचित्तं च हर्षादिकारण पुष्टि, उक्तञ्च—“ इट्ठानिट्ठाहारऽब्भवहारे होंति पुट्ठिहाणिओ । जहतह-मणसो ताओ पुग्गलगुणउत्ति का दोसो ? ॥ १ ॥ छाया—इष्टानिष्टाहारा-भ्यवहारे भवत पुष्टिहानी । यथा तथा मनसस्ते पुद्गलगुणत्वादिति को दोष. ? ॥ १ ॥ तस्मान्मनोऽपि विषयकृतानुग्रहोपघाताभावादप्राप्यकारीति स्थितं, “ इह सुगतमतानुसारिणः श्रोत्रमप्यप्राप्यकारि प्रपद्यन्ते, तथा च तद्ग्रन्थ — “चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्यकारी ” ति तदयुक्तं, इहा प्राप्यकारि

तत्प्राप्तिरेव शक्यते यस्य विषयकृतानुग्रहोपघाताभावो, यथा चक्षुर्मनसोः, श्रोत्रस्य च शब्दकृत उपघातो दृश्यते, सद्योजात बालकस्य समीपे महा--प्रयत्नताडितझल्लरीझङ्कारश्रवणतो यद्वा विद्युत् प्रपाते तत् प्रत्यास-न्नदेशवर्तिना निर्घोषश्रवणतो बधिरीभावदर्शनात्, शब्दपरमाणवो हि उत्पत्तिदेशादारभ्य सर्वतो जलतरङ्गन्यायेन प्रसरमभिगृह्णाना. श्रोत्रेन्द्रिय-देशमागच्छन्ति, तत सम्भवत्युपघात, ननु यदि श्रोत्रेन्द्रिय देश प्राप्त-मेव शब्द गृह्णाति नाप्राप्तं तर्हि यथा गन्धादौ गृह्यमाणे न तत्र दूरासन्नादि तया भेदप्रतीतिरेव शब्देऽपि न स्यात. प्राप्तो हि विषय परिच्छिद्यमा-न सर्वोऽपि सन्निहित एव, तत कथं तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवितु-मर्हति ?, अथ च प्रतीयते शब्दो दूरासन्नादितया, तथा च लोके वक्ता-र श्रूयन्ते,—कस्यापि दूरे शब्द इति, अन्यच्च-यदि प्राप्तः शब्दो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तर्हि चाण्डालोक्तोऽपि शब्द श्रोत्रियेण श्रोत्रेन्द्रियसस्पृष्टो गृह्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य चाण्डालस्पर्शदोषप्रसग, तन्न श्रय श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वं, तदेतः तिमहामोहस्य मलीमसभाषित त (च) तो यद्यपि शब्द प्राप्तो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तथापि यत उत्थित शब्दस्तस्य दूरासन्नत्वे शब्देऽपि स्वभाववैचित्र्यसभवाद् गमन्नादि भेदप्रतीतिर्भवति. तथाहि—दूरा-दागत शब्द क्षीणशक्तिकत्वात्स्पष्ट उपलभ्यते अस्पष्टरूपो वा, ततो लोको वदति-दूरे शब्द श्रूयते अस्य च वाक्यस्याय भावार्थो—दूरादाग-त शब्द. श्रूयते इति, स्यादेतत्-एवमति प्रसग प्राप्नोति. तथाहि—स्तम्भ एवतु शक्यते—दूरे स्तम्भ उपलभ्यते, किमुक्त भवति ?—दूरगतं रूपमुपलभ्यते इति. ततश्चक्षुरपि प्राप्यकारि प्राप्नोति, नचेष्यते. तस्मा-दैतत् समीचीनमिति, तदयुक्त यत इह चक्षुषो रूपकृतानुग्रहोपघातौ

नोपलभ्येते, श्रोत्रेन्द्रियस्य तु शब्दकृत उपघातोऽस्ति, एतच्चप्रागेवोक्तं, ततो नातिप्रसंगापानमुपपत्तिमत्, अन्यच्च—प्रत्यासन्नोऽपि जन पवनस्य प्रति-कूलमवतिष्ठमानः शब्दं न शृणोति, पवनवर्त्मनि तु वर्तमानो दूरदेश स्थितोऽपि शृणोति, तथाचलोके वक्तारो-न वयं प्रत्यासन्ना अपि त्व-दीयं वच शृणुम., पवनस्य प्रतिकूलमवस्थानात्, यदि पुनरप्राप्तमेव शब्दं रूपमिव जनाः प्रमिणुयु, तर्हि वातस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमाना रूपमिवशब्दं प्रमिणुयुः, न च प्रमिण्वन्ति, तस्मात् प्राप्ता एव शब्द परमाणवः श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते इति अवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, तथा च सति पवनस्य प्रतिकूलमवष्ठिमानानां श्रोत्रेन्द्रियं न शब्दपरमाणवो वै-पुल्येन प्राप्नुवन्ति, तेषामन्यथा वातेन नीयमानत्वात्, ततो न ते शृ-ण्वन्तीति न काचित् क्षति, यदपि चोक्तं चाण्डालस्पर्शदोष प्राप्नोती 'ति' तदपि चेतनाविकलपुरुषभाषितमिवासमीचीन, स्पर्शास्पर्शव्यवस्थाया लो-के काल्पनित्वात्, तथाहि—न स्पर्शव्यवस्था लोके पारमार्थिकी, तथाहि—यामेव भुवमग्रे चाण्डालः स्पृशन् प्रयाति तामेव पृष्ठत श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमारोहति स्म चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतश्चाण्डालमपि स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शदोषव्यवस्था, तथा शब्दपुद्गलस्पर्शेऽपि न भवतीतिनकश्चिद्दोष., अपि च—यथा केतकीदलनिचयं शतपत्रादिपुष्पनिचयं वा शिरसि नि-वध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपनमारचय्यविपणिवीथ्यमागत्य-चाण्डालोऽवतिष्ठते तदा तद्गतकेतकीदलादिगंधपुद्गलाः श्रोत्रियादि नासिकास्वपि प्रविशन्ति, ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तद्दोषभयान्नासिकेन्द्रियमप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्यं, न चैतद् भवतोऽप्यागमे

प्रतिपादितं, ततो बालिशजल्पितमेतदिति कृतं प्रसङ्गेन ॥ केचित्पुनः श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वमभ्युपगच्छन्तः शब्दस्याम्बरगुणत्वं प्रतिपद्यन्ते, तदयुक्तं, आकाशगुणतायां शब्दस्यामूर्त्तत्वप्रसक्तेः, यो हि यद्गुणः स तत्समानधर्मा, यथा ज्ञानमात्मनः, तथाहि—अमूर्त्त आत्मा, ततस्तद्गुणो ज्ञानमप्यमूर्त्तमेव, एवं शब्दोऽपि यद्याकाशगुणस्तदाऽऽकाशस्यामूर्त्तत्वाच्छब्दस्यापि तद्गुणत्वेनामूर्त्तता भवेत्, न चासौ युक्तिसङ्गता, तल्लक्षणायोगात्, मूर्तिविरहो ह्यमूर्त्ततायाः लक्षणं, न च शब्दानां मूर्तिविरहः, स्पर्शवत्त्वात्, तथाहि—स्पर्शवन्तः शब्दाः, तत्संपर्कादुपघातदर्शनाल्लोष्टवत्, न चायमसिद्धो हेतुः, यतो दृश्यते सद्योजातबालकानां कर्णदेशाभ्यर्णीकृतगाढास्फालितझल्लरीझात्कारश्रवणात् श्रवणस्फोटो, न चेत्थमुपघातकृत्त्वमस्पर्शवत्त्वे सम्भवति, यथा विहायसः, ततो विपक्षे गमनासम्भवान्नानैकान्तिकोऽपि. अतश्च स्पर्शवन्तः शब्दाः, तैरभिघाते गिरिगह्वरभित्त्यादिषु शब्दोत्थानाल्लोष्टवत्, अयमपि हेतुरुभयोरपि सिद्धः, तथाहि—श्रूयन्ते तीव्रप्रयत्नोच्चारितशब्दाभिघाते गिरिगह्वरादिषु प्रतिशब्दाः प्रतिदिक्, ततः स्पर्शवत्त्वान्मूर्त्ता एव शब्दाः, "रूपस्पर्शादिसन्निवेशो मूर्त्ति" रिति वचनप्रामाण्यात्, ततः कथमिवाकाशगुणत्वं शब्दानामुपपत्तिमत्, ? । अपि च—तदाकाशमेकमनेकं वा ? यद्येकं तर्हि योजनलक्षादपि श्रूयेत, आकाशस्यैकत्वेन शब्दस्य तद्गुणतया दूरासन्नादिभेदाभावात्. अथानेकं, एवं सति वक्तृदेश एव स नियत इति कथं भिन्नदेशवर्त्तिभिः श्रोतृभिः श्रूयते ?, वक्तृदेशाकाशगुणतया तस्य श्रोतृजनश्रोत्रेन्द्रियाकाशसम्बन्धाभावात् अथ च श्रोत्रेन्द्रियाकाशसम्बन्धतया तद्ग्रहणमभ्युपगम्यते, तदागतेन गुणताऽभ्युपगमः शब्दस्य श्रेयान्, तस्याकाशगुणत्वमन्तरेण शब्दस्याग-

स्थानमेव नोपपद्यते, अवश्यंहि पदार्थेन स्थितिमता भवितव्यं, तत्र रूपरस-स्पर्शगंधानां पृथिव्यादिमह भूतचतुष्टयमाश्रयः, शब्दस्य त्वाकाश-मिति, तदयुक्तं, एवं सति पृथिव्यादीनामप्याकाशगुणत्वप्रसक्ते, तेपामप्याकाशाश्रितत्वात, न खल्वाकशमन्तरेणपृथिव्यादीनामप्य-न्यदाश्रयः, अगुणत्वात्पृथिव्यादीनामाकाशगुणत्वमनुपपन्नमितिचेत, न, आकाशाश्रितत्त्वेन भवन्नीत्यावलादपि तद् गुणत्वप्रसक्ते, अथ ना-श्रयण मात्रं तद् गुणत्व निबन्धन किन्तु समवाय, सचास्ति शब्दस्याकाशे न तुपृथिव्यादीनामिति, ननुकोऽय समवायो नाम ? एकत्रलोलीभावे नावस्थानं यथा पृथिव्यादिरूपाद्योरितिचेत्, न तर्हि शब्दस्य काशगुत्व माकाशेनसहैकत्र लोलीभावेन तस्याप्रतिपत्ते, अथाऽऽकाशे उपलभ्यमानत्वा त्तद्गुणताशब्दस्य, तूलकादेरपि तर्ह्याकाशे उपलभ्यमानत्वात्तद्गुणत्वं प्राप्नोति, अथ तूलकादेः परमार्थत पृथिव्यादिस्थानमाकाशेतूपलम्भो वायुना सञ्चार्य्यमाणत्वात, यद्यव तर्हि शब्दस्यापि न परमार्थत. स्थान-माकाश किन्तु श्रोत्रादि, यत पुनराकाशेऽवस्थानमुपलभ्यते तद् वायुना सञ्चार्य्यमाणत्वादवसेय, तथाहि—यतो यतो वायु सञ्चरति ततस्तत शब्दोऽपिगच्छति, वातप्रतिकूलशब्दस्याश्रवणात, उक्त च—"यथा च प्रर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना । तथा शब्दोऽपि कि वायोः, प्रतीपं कोऽपि शब्दवित्" तन्नाकाशगुणः शब्द. किन्तु पुद्गलमय इति स्थितम् ॥

मूलः—से कि तं अत्थुग्गहे ? अत्थुग्गहे छव्विहेपण्णत्ते, तंजहा सोइंदिअअत्थुग्गहे चक्खिंदिअ अत्थुग्गहे, घाणिंदिअ अत्थुग्गहे । जिब्भिंदिअ अत्थुग्गहे फासिंदिअ अत्थुग्गहे नोइं

दिय अत्थुग्गहे ॥ (सू० ३०)

टीका :—अथ कतिविधोऽयमर्थावग्रह ?, सूरिराह—अर्थावग्रह षड्विध प्रज्ञप्त, तद्यथा यथा—'श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह' इत्यादि. श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह, (श्रोत्रेन्द्रियेण) व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालमेकसामयिकमनिर्देश्यसामान्यरूपार्थावग्रहणश्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह, एव घ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहेष्वपि वाच्यं, चक्षुर्मनसोस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति. ततस्तयो प्रथममेव स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविकल्पनातीतमनिर्देश्य सामान्यमात्रानुपावग्रहणमर्थावग्रहोऽयमेव। तत्र "नोइंदिय अत्थावग्गहे" त्ति नो इन्द्रिय—मनः, तच्चद्विधा—द्रव्यरूप भावरूप च, तत्र मन पर्याप्तिनामकर्मोदयतो यत् मनः प्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमित तद्द्रव्यरूप मन, तथा चाह चूर्णिकृत "मणपज्जत्ति नाम कम्मोदयत्रो तजोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तेण परिणामिया दव्वादव्वमणो भण्णइ।" तथा द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणाम स भावमन तथा चाह चूर्णिकार एव—"जीवो पुण मणणपरिणामकिरियावन्नो भावमणो, किं भणियं होइ ?—मणदव्वालंबणो जीवस्स मणणवावारो भावमणो, भण्णइ" तत्र भावमनसा प्रयोजन, तद्ग्रहणे पारम्पर्याद्द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति, द्रव्यमनसोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात्, भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति, यथा भवस्थकेवलिन ननु उच्यते—भावमनस्तेन प्रयोजन. तत्र नोइन्द्रियेण—भावमनसाऽर्थावग्रहो द्रव्येन्द्रियव्यापारानपेक्षं घटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाभिमुख प्रथममेकसामयिकमर्थावग्रहणं रूपादिविशेषचिन्ताविरहितोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रचिन्तात्मको बोधो नो इन्द्रियार्थावग्रह ॥

मूल—तस्स णं इमे एगट्ठिआ नाणाघोसा नानावंजणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तंजहा-ओगेण्हणया उवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा । सेत्त उग्गहे (सू० ३१)

टीका :—'तस्य' सामान्येनावग्रहस्य "ण" मिति वाक्यालंकारे 'अमूनि' वक्ष्यमाणानि एकार्थिकानि 'नाना घोसाणि' त्ति घोषा:—उदात्तादयः स्वरविशेषाः, आह च चूर्णिकृत—"घोसा उदात्तादओ सरविसेसा" नाना घोषा येषा तानि नानाघोषाणि, तथा नानाव्यञ्जनानि—कादीनि येषां तानि नाना व्यञ्जनानि, पञ्चनामान्येव नामधेयानि भवन्ति, 'तद्यथे' ति तेषामेवोपदर्शने, 'ओगिण्हणया' इत्यादि, यदा पुनरवग्रहविशेषानपेक्ष्यामूनि पञ्चापिनामधेयानि चिन्त्यन्ते तदा परस्परभिन्नार्थानि वेदितव्यानि, तथाहि—इहावग्रहस्त्रिधा, तद्यथा—व्यञ्जनावग्रह सामान्यार्थावग्रहो विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च, तत्र विशेषसामान्यर्थावग्रह औपचारिकः, सचानन्तरमेवाग्रे दर्शयिष्यते, तत्र 'ओगिण्हणय' त्ति अवगृह्यतेऽनेनेति अवग्रहण, करणेऽनट्, व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिपुद्गलादानपरिणाम, तद् भावोऽवग्रहणता । तथा 'उवधारणय' त्ति धार्यतेऽनेनेनिधारण, उप-सामीप्येनधारण उपधारणं—व्यञ्जनावग्रहेऽपि द्वितीयादि समयेषुप्रतिसमयमपूर्वापूर्वप्रवेशशब्दादि पुद्गलादानपुरस्सरं प्राक्तनप्राक्तनसमयगृहीतशब्दादिपुद्गलधारणपरिणाम तद् भाव उपधारणता, तथा "सवणय" त्ति श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम —एकसामायिक सामान्यार्थावग्रहरूपो, बोधपरिणामः तद्भाव. श्रवणता, तथा अवलंबणय' त्ति अवलम्ब्यते इति अवलम्बनं, 'कृदबहुल' मिति वचनात् कर्मण्यनट्, विशेषसामान्यार्थावग्रहः

मूल—तस्स णं इमे एगट्ठिआ णाणाघोसा नानावंजणा पंच नामधिज्जा भवन्ति, तंजहा-ओगेण्हणया उवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा। सेत्त उग्गहे (सू० ३१)

टीका :—'तस्य' सामान्येनावग्रहस्य "णं" मिति वाक्यालंकारे 'अमूनि' वक्ष्यमाणानि एकार्थिकानि 'नाना घोसाणि' त्ति घोषाः—उदात्तादयः स्वरविशेषाः, आह च चूर्णिकृत—"घोसा उदात्तादओ सरविसेसा" नाना घोषा येषां तानि नानाघोषाणि, तथा नानाव्यञ्जनानि—कादीनि येषां तानि नाना व्यञ्जनानि, पञ्चनामान्येव नामधेयानि भवन्ति, 'तद्यथे' ति तेषामेवोपदर्शने, 'ओगिण्हणया' इत्यादि, यदा पुनरवग्रहविशेषानपेक्ष्यामूनि पञ्चापिनामधेयानि चिन्त्यन्ते तदा परस्परंभिन्नार्थानि वेदितव्यानि, तथाहि—इहावग्रहस्त्रिधा, तद्यथा—व्यञ्जनावग्रह सामान्यार्थावग्रहो विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च, तत्र विशेषसामान्यर्थावग्रह औपचारिकः, सचानन्तरमेवाग्रे दर्शयिष्यते, तत्र 'ओगिण्हणय' त्ति अवगृह्यतेऽनेनेति अवग्रहणं, करणेऽनट्, व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिपुद्गलादानपरिणाम., तद्भावोऽवग्रहणता। तथा 'उवधारणय' त्ति धार्यतेऽनेनेति धारणं, उप-सामीप्येनधारणं उपधारण—व्यञ्जनावग्रहेऽपि द्वितीयादि समयेषुप्रतिसमयमपूर्वापूर्वशब्दादि पुद्गलादानपुरस्सरं प्राक्तनप्राक्तनसमयगृहीतशब्दादिपुद्गलधारणपरिणाम तद्भाव उपधारणता, तथा "सवणय" त्ति श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम—एकसामायिक सामान्यार्थावग्रहरूपो बोधपरिणामः तद्भाव श्रवणता, तथा अवलंबणय' त्ति अवलम्ब्यते इति अवलम्बनं, 'कृद्बहुल' मिति वचनात् कर्मण्यनट्, विशेषसामान्यार्थावग्रहः

कथं विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनमिति ?, चेत् , उच्यते,—इह शब्दोऽयमित्यपि ज्ञान विशेषावगमनरूपत्वाद् अवायज्ञानं, तथाहि—शब्दोऽयं नाशब्दो—रूपादि . इति शब्दस्वरूपावधारणं विशेषावगम', ततोऽस्मात् यत्पूर्वमनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणमेकसामयिकं स पारमार्थिकार्थाव ग्रह', तत ऊर्ध्वं तु यत्किमिदमिति विमर्शन सा ईहा, तदनन्तरं तु यच्छब्द स्वरूपावधारण शब्दोऽयमिति तदवायज्ञान, तत्रापि यद: उत्तरधर्म जिज्ञासा भवति—किमय शब्द शाङ्ख किं वा शार्ङ्ग ? इति तदा पाश्चात्य शब्द इति ज्ञानं विशेषावगमापेक्षया सामान्यम त्रालम्बनमित्यवग्रह इत्युपचर्य्यते, स च परमार्थत सामान्यविशेषरूपार्थालम्बन इति विशेष सामान्यार्थावग्रह इत्युच्यते, इदमेव च शब्द इति ज्ञानमवलम्ब्य किमयं शाख ? किं वा शार्ङ्ग ? इति ज्ञानमुदयते, ततो विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बन इत्युक्त., ततोऽवलम्बनस्य भावोऽवलम्बनता, ततोऽप्यूर्ध्वं किमयं शांख ? कि वा शार्ङ्ग इतीहित्वा यच्छाख एव शार्ङ्ग एव वेति ज्ञानं तदवायज्ञानं, तदपि च किमयं शांखोऽपि शब्द. मद्र किं वा तार ? इत्युत्तर-विशेप जिज्ञासायां पाश्चात्य पाश्चत्यमवायज्ञानमुत्तरोत्तरविशेपावगमापेक्षया सामान्यार्थावलम्बनमित्यवग्रह इत्युपचर्य्यते, किं मन्द्र ? किं वा तार ? इतीह मन्द्र एवाय तार एवायमित्यवाय:, एवमुत्तरोत्तरविशेप जिज्ञासाया पाश्चात्य पाश्चात्यमवाय ज्ञानमुत्तरोत्तर विशेपाव गमापेक्षया सामान्यार्थावलम्बनमित्यवग्रह इत्युपचर्य ते, यदा उत्तरधर्मजिज्ञासा न भवति तदा तदन्त्य विशेपज्ञानमवाय ज्ञानमेव, नावग्रह इत्युपचर्य्यते, उपचारनिबन्धनाभावात्, उत्तरविशेपा-काङ्क्षाया अपगमात्, ततस्तदनन्तरमविच्युतिरूपाधारणा प्रवर्तते, वास-

नास्मृती तु सर्वेष्वपि विशेषावगमेषु द्रष्टव्ये, तथा चाह प्रवचनोपनिषद्वेदी भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः— "सामन्नमेत्तगहणं निच्छयओ समयमोग्गहो पढमो । तत्तोऽणंतरमीहिय वत्थु विसेसस्स जोऽवाओ ॥१॥ छाया—सामान्यमात्रग्रहणं निश्चयतः समयमवग्रहः प्रथमः । ततोऽनन्तमीहितवस्तुविशेषस्य योऽपायः ॥ १ ॥ सो पुणरीहावायाविक्खाओ उग्गहत्ति उवयरिओ । एस विसेसावेक्खा सामन्नं गेण्हए जेण ॥ २ ॥ छाय —स पुनरीहापायापेक्षयाऽवग्रह इति उपचरित । एष विशेषापेक्षया सामान्यं गृह्णाति येन ॥ २ ॥ तत्तोऽणंतरमीहा तओ अवाओ य तव्विसेसस्स । इह सामन्न विसेसाऽवेक्खा जावंतिमो भेओ ॥ ३ ॥ छाया— ततोऽनन्तरमीहा ततोऽपायश्च तद्विशेपस्य । इह सामान्यविशेपापेक्षा यावदन्तिमो भेदः ॥ ३॥ सव्वत्थेहावाया निच्छयओ मोत्तुमाइसामन्नं । संववहारत्थं पुण सव्वत्थावग्गहोऽवाओ ॥ ४ ॥ छाया सर्वत्रेहापायौ निश्चयतो मुक्त्वाऽऽदि सामान्यम् । सव्यवहारार्थं पुनः सर्वत्रावग्रहोऽपायः ॥ ४ ॥ तरतमजोगाभावेऽवाओ च्चिय धारणा तदंतमि । सव्वत्थ वासणा पुण भणिया कालंतरसई य ॥ ५ ॥" छाया—तारतम्ययोगाभावेऽपाय एव धारणा तदन्ते । सर्वत्र वासना पुनर्भणिता कालान्तरस्मृतिश्च ॥५॥ त्ति, तथा 'मेहा' त्ति मेधा प्रथमं विशेषसामान्यार्थावग्रहमितिरिक्त्योत्तरः सर्वोऽपि विशेषसामान्यार्थावग्रहः ॥ तदेवमुक्तानि पञ्चापि नामधेयानि भिन्नार्थानि, यत्र तु व्यञ्जनावग्रहो न घटते तत्राद्य भेदद्वयं न द्रष्टव्यं, 'सेत्तं उग्गहा' त्ति निगमनम् ।

मूल—'से किं तं ईहा ?, २ छव्विहा पण्णत्ता, तंजहा-सोइंदियईहा चक्खिदिय ईहा घाणिंदियईहा जिब्भिंदियईहा

फासिंदिअईहा नोइंदिअ ईहा, तीसे णं इमे एगट्ठिआ नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नाम धिज्जा भवंति, तं जहा—आभोगणया मग्गणया गवेसणया चिता विमंसा, से तं ईहा ॥ (सू० ३२)

टीका :—अथ केयमीहा ?, ईहा षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यादि, तत्रश्रोत्रेन्द्रियेणेहा श्रोत्रेन्द्रियेहा, श्रोत्रेन्द्रियाथोवग्रह मधिकृत्य या प्रवृत्ता ईहा सा श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यर्थ., एवं शेषा अपि साधनीयाः। 'तीसे णं' मित्यादि सुगमं। नवर सामान्यत एकार्थिकानि, विशेष चिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि, तत्र 'आभोगणय' ति आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनं—अर्थावग्रहसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचन तस्यभाव आभोगनता, तथा मार्ग्यतेऽनेनेति मार्गणं—सद्भूतार्थ विशेषाभिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणं तद्भावो मार्गणता तथा—गवेश्यतेऽनेनति गवेषणं-तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेपाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मत्यागतोऽन्वय धर्माध्यासालोचनं तद भावोगवेषणता, ततो मुहुर्मुहु क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषच्चिन्तन चिन्ता, तत् ऊर्ध्वंक्षयोपशमविशेषात् स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेक धर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मापरित्यागतोऽन्वयधर्मे विमर्शनं विमर्शः। 'से तं ईहे' त्तिनिगमनम् ॥

मूल:—"से किं तं अवाए ? २ अवाए छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा सोइंदिअअवाए चक्खिंदिअअवाए घाणिंदिअअवाए जिब्भिंदिअअवाए फासिंदिअअवाए नोइंदिअअवाए

तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावजणा पंचनामधिज्जा भवन्ति, तं जहा—आउट्टणया पच्चाउट्टणया अवाए बुद्धि विण्णणे, से तं अवाए ॥ (सू० ३२)

टीका:—अत्र श्रोत्रेन्द्रियेणावाय श्रोत्रेन्द्रियावाय, श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तामर्थावग्रहमधिकृत्य य प्रवृत्तोऽपाय स श्रोत्रेन्द्रियापाय इत्यर्थ, एवं शेषा अपि भावनीया । 'तस्स ण' मित्यादि प्रागवत्' अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि, तत्र आवर्त्तते—ईहातो निवृत्यापायभावं प्रत्यभिमुखो वर्त्तते येन बोधपरिणामेन स आवर्त्तनस्तद्भाव आवर्तनता, तथा आवर्तनं प्रति येगता अर्थ विशेषपूत्तरोत्तरेषु विवक्षिता अपायप्रत्यासन्नतरा बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्तना तद्भाव: प्रत्यावर्तनता, तथा अपायो-निश्चय. सर्वथा ईहाभावाद् विनिवृत्तास्यावधारणा-अवधारितमर्थमवगच्छतो यो बोधविशेष: सोऽपाय इत्यर्थः, ततस्तमेवावधारितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुन, पुन स्पष्टतरमवबुध्यमानस्य या बोधपरिणति सा बुद्धि, तथा विशिष्टं ज्ञानं विज्ञान— क्षयोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरधारणा हेतुर्बोधविशेष, 'से तं अवाए' इति निगमनम् ॥

मूल :—से किं तं धारणा ? धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा सोइंदिअधारणा चक्खिंदिअधारणा घाणिंदिअधारणा जिब्भिंदिअधारणा फासिंदिअधारणा नोइंदिअधारणा । तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच ना-

मधिज्जा भवंति, तंजहा धारणा साधारणा ठवणा पइट्ठा कोट्ठे, से तं धारणा ॥ (सू० ३४)

टीका – 'से किं त' मित्यादि सुगम यावद्धारणा इत्यादि, अत्रापि सामान्यत एकार्थानिविशेषार्थचिन्ताया पुनर्भिन्नार्थानि, तत्रापायानन्तरमवगतस्यार्थस्याविच्युत्याऽन्तमुहूर्त्तकालं यावद्धरण धारणा, ततस्तमेवार्थमुपयोगात् च्युतं जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तादुत्कर्षतोऽसंख्येयकालात् परतो यत्स्मरणं सा धारणा, तथा स्थापन स्थापना, आपायावधारितस्यार्थस्य हृदिस्थापनं, वासेनेत्यर्थ., अन्ये तु धारणास्थापनयोर्व्यत्यासेनस्वरूपमाचक्षते, तथा प्रतिष्ठापन प्रतिष्ठा—अपायावधारितस्यैवावर्थस्य हृदिप्रभेदेन प्रतिष्ठापनमित्यर्थः, कोष्ठ इव कोष्ठ अविनष्टसूत्रार्थधारणमित्यर्थ. । 'से तं धारण सेयंधारणा' ।



दर्शनविषयः

मूलः—दुविहे दंसणे पन्नत्ते तं०—सम्मद्दंसणे चेव मिच्छादंसणे चेव १ सम्मद्दंसणे दुविहे पं तं०—णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव अभिगमसम्मद्दंसणे चेव २ णिसग्गसम्मद्दंसणे दुविहे पं, तं०—पडिवाई चेव अपडिवाई चेव ३ अभिगमसम्मद्दंसणे दुविहे पं, तं०— पडिवाई चेव अप्पडिवाई चेव ४ मिच्छादंसणे दुविहे प, तं०— अभिग्गहियमिच्छदंसणे चेव ५ अणभिग्गहिय मिच्छादंसणे चेव अभिग्गाहियमिच्छांदसणे दुविहे पं, तं०—सपज्जवसिते चेव अपज्जवसिते चेव ६ एवं अणभिगहितमिच्छादंसणेऽवि७ (सू० ७०)

टीका :— 'दुविहे दंसणे' इत्यादि सूत्राणि सप्त सुगमान्येव, नवरं, दृष्टिर्दर्शनम्—तत्त्वेषु रुचि तच्च सम्यग्—अविपरीत जिनोक्तानुसारि, तथा मिथ्या—विपरीतमिति । 'सम्मदंसणे' इत्यादि, निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरं, अभिगमोऽधिगमो गुरूपदेशादिरिति, ताभ्यायत्तत तथा, क्रमेण मरुदेवीभरतवदिति, 'निसर्गे' त्यादि, प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति सम्यग् दर्शनमौपशमिकं क्षायोपशमिकं च, अप्रतिपाति क्षायिकं, तत्रैषा क्रमेण लक्षणं—इहौपशमिकीं श्रे-

णीमनुप्रविष्टस्यानन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रयस्य चोपशमादौपशमिकं भवति, यो वाऽनादिमिथ्यादृष्टिरकृतसम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्राभिधान शुद्धाशुद्धोभयरूपमिथ्यात्वपुद्गलत्रिपुञ्जीक एव अक्षीणमिथ्यादर्शनोऽक्षपक इत्यर्थः, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिकं भवतीति, कथं ?,—इह यस्य मिथ्यादर्शनमोहनीयमुदीर्णं तदनुभवेनैवोपक्षीणमन्यत्तु मन्दपरिणामतया नोदितमतस्तदन्तमु हूर्त्तमात्रमुपशान्तमास्ते, विष्कम्भितोदयमित्यर्थः, तावत कालमस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ इति, आह च—'उवसामगसेढिगयस्स' होइ उवसामिअं तु सम्मत्तं। जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ छाया—उपशमश्रेणिगतस्य भवति औपशमिकं तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपित मिथ्यात्वो लभते-सम्यक्त्वम् ॥ १ ॥ खीणम्मि उदिन्नमि अणुदिज्ज ते य सेसमिच्छत्ते। अन्तोमुहूत्त कालं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ २ ॥" छाया—क्षीणे उदीर्णे अनुदीर्णे च शेषमिथ्यात्वे । अन्तमु हूर्त्तकालमौपशमिकसम्यक्त्व लभते जीवः ॥ २ "॥ त्ति । अन्तमु हूर्त्तमात्रकालत्वादेवास्य प्रतिपातित्व, यच्चानन्तानुबन्ध्युदये औपशमिकसम्यक्त्वात् प्रतिपतत सास्वादनमुच्यते तदौपशमिकमेव तदपि च प्रतिपात्येव, जघन्यत समयमात्रत्वादुत्कृष्टतस्तु षडावलिकामानत्वादस्येति, तथेह यदस्य मिथ्यादर्शन दलिकमुदीर्णं तदुपक्षीणं यच्चानुदीर्णं तदुपशान्तम्, उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयमपनीतमिथ्यास्वभाव च, तदिहक्षयोपशमस्वभावमनुभूयमानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते, नन्वौपशमिकेऽपि क्षयश्चोपशमश्चतथेहापीति-कोऽनयोर्विशेष ?, उच्यते, अयमेवहि विशेष—यदिह वेद्यते दलिक न तत्र, इह हि क्षायोपशमिके पूर्वशमितमनुसमयमुदेति वेद्यते क्षीयते च,

औपशमिके तूदयविष्कम्भणमात्रमेव, आहच—मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं । मीसीभाव परिणयं वेइज्जंतं खओवसमं ॥ १ ॥ छाया—मिथ्यात्वं यदुदीर्णं तत् क्षीणं अनुदीर्णं चोपशान्तम् । मिश्रीभाव परिणतं वेद्यमान क्षायोपशमिकम् ॥ १ ॥ त्ति, एतदपि जघन्यतोऽन्त-मुहूर्त्त स्थितिकत्वादुत्कर्षतः षट्षष्ठि सागरोपमस्थितिकत्वाच्च प्रति पातीति, यदपि च वेदकस्य सम्यग्दर्शनदलिकचरमपुद्गलानुभवनरूपं वेदकमित्युच्यते तदपि क्षायोपशमिकभेदत्वात् प्रतिपात्येवेति, तथा मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमोहनीयक्षयात् , क्षायिकमिति, आहच—"खीणे दंसणमोहे तिविहंमिविभवनियाणभूयंमि । निप्पच्चवायमउल सम्मत्तं खाइयं होइ । । १ ॥ छाया—क्षीणे दर्शनमोहे त्रि-विधेऽपि भवनिदानभूते । निष्प्रत्यपायमतुलं सम्यक्त्वं क्षायिकं भवति ॥ १ ॥ त्ति, इदन्तु क्षायिकत्वादेवाप्रतिपाति, अत एव सिद्धत्वेऽप्यनुवर्तते इति । 'मिच्छादंसणे' इत्यादि, अभिग्रहः—कुमतपरिग्रह स यत्रास्ति तदाभिग्रहिकं तद् विपरीतम्—अनभिग्रहिकमिति । 'अभिग्गहिए' इत्यादि अभिग्रहिकं मिथ्यादर्शनं सपर्यवसितं—सपर्यवसानं सम्यक्त्व प्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तत्र मिथ्यात्व मात्रमप्यतीत काल नयानुवृत्याऽभिग्रहिकमिति व्यपदिश्यते, अनभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितमभव्यस्यापर्यवसितमिति, अत एवाह—एवं अणभिग्गहियं । दर्शनमभिहितमथ ज्ञानमभिधीयते, तत्र दुविहे नाणे इत्यादीनि आवस्सग वइरित्ते दुविहे' इत्यादि सूत्राण्यासर्वाणि त्रयोविंशति सूत्राणि ॥

मूल—दुविहे नाणे पं० त०—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खे नाणे दुविहे पन्नत्ते तं०—केवलनाणे चेव णोकेवलनाणे-चेव २, केवलणाणे दुविहे पं० तं०—भवत्थकेवलनाणे चेव सिद्धकेवलनाणे चेव ३ भवत्थकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—सजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव, अजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव ४, सजोगि भवत्थकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव ५, अहवा चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव अचरिमसमयसजोगि भवत्थकेवलणाणे चेव ६, एवं अजोगिभवत्थकेवलनाणेऽवि ७, ८, सिद्धकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—अणंतरसिद्धकेवलणाणे चेव परंपरसिद्धकेवलणाणे चेव ९, अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पं० तं०—एक्काणंतरसिद्धकेवलणाणे चेव अणेक्काणंतरसिद्धकेवलणाणे १०, परंपरसिद्ध केवलणाणे दुविहे पं० तं०—एक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव अणेक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव ११, णोकेवलणाणे दुविहे पं० तं०—ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव १२, ओहिणाणे दुविहे पं० तं०—भवपच्चइए चेव खओवसमिए चेव १३, दोण्हं भवपच्चइए पन्नत्ते, तं०—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव १४, दोण्ह खओवसमिए पं० तं०—मणुस्साणं चेव पंचिंदिय

तिरिक्खजोणीयाणं चेव १५, मणपज्जवणाणे दुविहे पं०तं ०—उज्जुमति चेव विउलमति चेव १६० परोक्खेणाणे दुविहे पन्नत्ते, तं-आभिणिबोहियणाणे चेव सुयनाणे चेव, १७ आभिणिबोहियणाणे दुविहे पं०तं०—सुयनिस्सिए चेव असुयनिस्सिए चेव १८, सुयनिस्सिए दुविहे पं० तं०—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव १९, असुयनिस्सितेऽवि एमेव २०, सुयनाणे दुविहे पं० तं०—अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव २१, अंगबाहिरे दुविहे पं० तं०—आवस्सए चेव आवस्सयवइरित्ते चेव २२, आवस्सयवतिरित्ते दुविहे पं० तं०—कालिए चेव उक्कालिए चेव ॥२३॥, (सू० ७१)

टीकाः—सुगमानि, नवर 'ज्ञानं' विशेषावबोध अश्नाति-भुंक्ते अश्नुते वा—व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष—आत्मा तं प्रति यद्वर्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत् प्रत्यक्षम—अव्यवहितत्वेनार्थसाक्षात्करणदक्षमिति, आह च—" अक्खो जीवो अत्थव्वावणभोयण गुणण्णिओ जेण । तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तमिह तिविहं ॥१॥" छाया—अक्षो जीवोऽर्थव्यापनभोजनगुणान्वितो येन । तं प्रति वर्तते ज्ञानं यत्प्रत्यक्षं तदिह त्रिविधम् ॥१॥ 'परोक्षं'—अक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य—जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तवशादिति, आह च—"अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेण । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥१॥" छाया—अक्षात् पुद्गलमयानि यद्द्रव्येन्द्रियमनांसि

पराणि तेन । तेभ्यो यद् ज्ञान परोक्षमिह तदनुमानमिव, ॥ १ ॥ " त्ति, अथवा परैरुक्षा-सम्बन्धन जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षं—इन्द्रिय मनो-व्यवधानेनात्मनोऽर्थप्रत्यायकमसाक्षात्कारीत्यर्थः॥ 'पच्चक्खे' त्यादि केवल—एकं ज्ञानं केवलज्ञानं तदन्यन्नोकेवलज्ञानम्—अवधिमन पर्य्यायलक्षण मिति। 'केवले' त्यादि, " भवत्थकेवलनाणे चेव" त्ति भवस्थस्य केवल-ज्ञानं यत्तत्तथा, एवमितरदपि, 'भवत्थे' त्यादि, सहयोगैः—कायव्यापारादिभिर्यःस सयोगी, इन्समासान्तत्वात् स चासौ भवस्थश्च तस्य केवल-ज्ञानमितिविग्रहः, न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी—शैलेशीकरणव्यवस्थित., शेषं तथैव, 'सयोगी' त्यादि, प्रथम समयः सयोगित्वे यस्य स तथा, एवमप्रथमो—द्व्यादिसमयो यस्य स तथा, शेषं तथैव, " अथवे" त्यादि, चरम — अन्त्य समयो यस्य सयोग्यवस्थाया स तथा, शेप तथैव, 'एव' मिति सयोगि सूत्रवत्प्रथमाप्रथमचरमाचरमविशेषण-युक्तमयोगिसूत्रमपिवाच्यमिति, 'सिद्धे' त्यादि, अनन्तर सिद्धो य सम्प्रति समयेसिद्ध , सचैकोऽनेको वा, तथा परम्परसिद्धो यस्य द्व्यादय समया सिद्धस्य सोऽप्येकोऽनेकोवेति, तेषा यत् केवलज्ञानं तत्तथाव्यपदिश्यत इति। 'ओहिनाणे' इत्यादि, ' भवपच्चइए' ति क्षयोपशमनिमित्तत्वेऽप्यस्य क्षयोपशमस्यापि भव प्रत्यत्त्वेन तत्प्राधान्येन भव एव प्रत्ययो यस्य तद् भव प्रत्ययमिति व्यपदिश्यत इति, इदमेवभाष्यकारेण साक्षेपपरिहार मुक्तं, तत्राक्षेपः—" ओहीखओवसमिए भावे भणितो भवो तहोदइए। तो किह भवपच्चइओ वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्ह" १॥ छाया—अवधि.क्षायोप-शमिके भावे भाणीतो भवस्तथौदयिके । तत कथं भव प्रत्ययिको वक्तु युक्तोऽवधिर्द्वयोः ? ॥१॥ (दोण्ह) ति देवनारकयो , अत्रपरिहार.—सोऽवि

तिरिक्खजोणीयाणं चेव १५, मणपज्जवणाणे दुविहे पं०तं ०—उज्जुमति चेव विउलमति चेव १६० परोक्खेणाणे दुविहे पन्नत्ते, तं–आभिणिबोहियणाणे चेव सुयनाणे चेव, १७ आभिणिबोहियणाणे दुविहे पं०तं०—सुयनिस्सिए चेव असुयनिस्सिए चेव १८, सुयनिस्सिए दुविहे पं० तं०—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव १९, असुयनिस्सितेऽवि एमेव २०, सुयनाणे दुविहे पं० तं०—अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव २१, अंगबाहिरे दुविहे पं० तं०—आवस्सए चेव आवस्सयवइरित्ते चेव २२, आवस्सयवतिरित्ते दुविहे पं० तं०—कालिए चेव उक्कालिए चेव ॥२३॥, (सू० ७१)

टीकाः—सुगमानि, नवरं 'ज्ञान' विशेषावबोध. अश्नाति-भुंक्ते अश्नुते वा—व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष —आत्मा तं प्रति यद्वर्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत् प्रत्यक्षम —अव्यवहितत्त्वेनार्थसाक्षात्करणदक्षमिति, आह च –" अक्खो जीवो अत्थव्वावणभोयण गुणण्णिओ जेण । तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तमिह तिविह ॥१॥" छाया—अक्षो जीवोऽर्थव्यापन भोजनगुणान्वितो येन । तं प्रति वर्तते ज्ञान यत्प्रत्यक्षं तदिहत्रिविधम ॥ १ ॥ 'ति परेभ्य.—अक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽन्यम —जीवस्य यज्ज्ञानपरोक्ष निरुक्तवशादिति, आह्च—अक्खस्सपोग्गलकया ज दव्विन्दियमणा परा तेण । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ २ ॥" छाया—अक्षात पुद्गलमयानि यद्द्रव्येन्द्रियमनांसि

पराणि तेन । तेभ्यो यद् ज्ञान परोक्षमिह तदनुमानमिव, ॥ १ ॥ " त्ति, अथवा परैरुक्षा-सम्बन्धनं जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षं—इन्द्रिय मनो-व्यवधानेनात्मनोऽर्थप्रत्यायकमसाक्षात्कारीत्यर्थ ॥ 'पच्चक्खे' त्यादि केवलं—एकं ज्ञानं केवलज्ञानं तदन्यन्नोकेवलज्ञानम्—अवधिमन'पर्य्यायलक्षण मिति । 'केवले' त्यादि, " भवत्थकेवलनाणे चेव" त्ति भवस्थस्य केवल-ज्ञान यत्तत्तथा, एवमितरदपि, 'भवत्थे' त्यादि, सहयोगैः—कायव्यापारादि भिर्यःस सयोगी, इन्समासान्तत्वात् स चासौ भवस्थश्च तस्य केवल-ज्ञानमितिविग्रहः, न सन्ति योगा यस्य स न योगीति वा योऽसावयोगी—शैलेशीकरणव्यवस्थित', शेपं तथैव, 'सयोगी' त्यादि, प्रथम समयः सयोगित्वे यस्य स तथा, एवमप्रथमो—द्वयादिसमयो यस्य स तथा, शेपं तथैव, " अथवे" त्यादि, चरम — अन्त्य समयो यस्य सयोग्यवस्थाया स तथा, शेप तथैव, 'एव' मिति सयोगि सूत्रवत्प्रथमाप्रथमचरमाचरमविशेषण-युक्तमयोगिसूत्रमपिवाच्यमिति, 'सिद्धे' त्यादि, अनन्तर सिद्धो य सम्प्रति समयेसिद्ध, सचैकोऽनेको वा, तथा परम्परसिद्धो यस्य द्वयादय समया सिद्धस्य सोऽप्येकोऽनेकोवति, तेपां यत् केवलज्ञानं तत्तथाव्यपदिश्यत इति । 'ओहिनाणे' इत्यादि, ' भवपच्चइए' ति क्षयोपशमनिमित्तत्वेऽ-प्यस्य क्षयोपशमस्यापि भव प्रत्ययत्वेन तत्प्राधान्येन भव एव प्रत्ययो यस्य तद् भव प्रत्ययमिति व्यपदिश्यत इति, इदमेवभाष्यकारेण साक्षेपपरिहार मुक्तं, तत्राक्षेप —" ओहीखओवसमिए भावे भणितो भवो तहोदइए । तो किह भवपच्चइओ वोत्तु जुत्तोऽवही दोण्ह" ॥१॥ छाया—अवधि चायोप-शमिके भावे भाणीतो भवस्तथौदयिके । तत कथ भव प्रत्ययिको वक्तुं युक्तोऽवधिर्द्वयो ? ॥१॥ (दोण्हं) ति देवनारक्यो', अत्रपरिहार —सोऽवि

द् वा श्रोत्रादिप्रभव तदश्रुतनिश्रितमिति, आह च—"पुव्व सुयपरिकम्मिय मतिस्स ज सपय सुयाइय। (त्तं) सुयास्सियमियर पुण अणिस्सियमइ च उक्कक (त)" ॥१॥ छाया—पूव श्रुतपरिकर्मितमतेयत् साम्प्रत श्रुतातीतम्। तन्निश्रितमितरत पुनरनिश्रित मतिचतुष्क तत् ॥१॥" ति 'सुए' त्यादि, अत्थोग्गहे' त्ति अर्यते-अधिगम्यतेऽर्थ्यते वा अन्विष्यत इत्यर्थ', तस्य सामान्यरूपस्यअशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरेवग्रहणं—प्रथम परिच्छेदनमर्थावग्रह इति निर्विकल्पक ज्ञान दर्शनमिति यदुच्यते इत्यार्थ, स च नैश्चयिको य स सामयिको यस्तु व्यवहारिक शब्दोऽर्यमित्याद्युल्लेखवान स आन्तर्मौहर्त्तिक इति, अयं चेन्द्रियमन'सम्बन्धात् पोढा इति, तथा व्यज्यतेऽनेनार्थ प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जन, तच्चोपकरणेन्द्रियं शब्दादित्वपरिणतद्रव्यसघातो वा, ततश्च व्यञ्जनेन—उपकरणेन्द्रियेण शब्दादित्वपरिणतद्रव्याणा व्यञ्जनानामवग्रहो व्यजनावग्रह इति, अथवा व्यजन-इन्द्रियशब्दादिद्रव्यसम्बन्ध इति, आह च—"वजिज्जइ जेणऽत्थो घडोव्व दीवेण वजण तात। उवगरणिदिय सद्दादिपरिणयदव्व सबन्धो ॥१॥" छाया—व्यज्यते येनार्थो घट इव दीपेन व्यजन ततस्तत् उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्ध. ॥१॥ 'त्ति' अय च मनो नयनवर्जेन्द्रियाणा भवतीति चतुर्द्धा, नयनमनसोरप्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वात् इतरेषा पुनरन्यथेति, ननु व्यंजनावग्रहो ज्ञानमेव न भवति, इन्द्रियशब्दादिद्रव्यसम्बन्धकाले तदनुभवाभावात, बधिरादीनामिवेति, नैव, व्यजनावग्रहान्ते तद्वस्तु ग्रहणादेवोपलब्धिसद्भावात, इह यस्य ज्ञेयवस्तु ग्रहणस्यान्ते तत एव ज्ञेयवस्तूपादानात् उपलब्धिर्भवति तत् ज्ञान दृष्ट, यथाऽर्थावग्रहपर्यन्ते तत एवार्थावग्रहग्राह्यवस्तु ग्रहणाद् ईहासद्भावात् अर्थावग्र-

आहच-"समणेण सावएण य अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा। अतो अहो-णिसस्स य तम्हा आवस्सयंनाम ॥१॥छाया-श्रमणेन श्रावकेण चावश्यं कर्त्तव्यं भवति यस्मात्। अतेऽन्होनिशश्च तस्मादावश्यक नाम॥१॥ आवश्यकाद् व्यतिरिक्तं ततो यदन्यदिति। "आवस्सगवतिरित्त" इत्यादि यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुपीद्वय एव पठ्यते तत् कालेन निर्वृत्तं कालिकम्--उत्तराध्ययनादि, यत पुन. कालवेलावर्जंपठ्यतेतदूर्ध्वं कालिकादित्युत्तरकालिक-दशकालिकादीति॥ उक्तं ज्ञान, चारित्र प्रस्तावयति—

मूलः—दुविहे धम्मे पं० तं०—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव, सुयधम्मे दुविहे पं० त०—सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे दुविहे पं, तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव, दुविहे संजमे पं० तं०—सरागसंजमे चेव वीतरागसंजमे चेव, सरागसंजमे दुविहे पं० त०—सुहुमसंपराय सरागसंजमे चेव, वादरसंपरायसरागसंजमे चेव. सुहुमसंपराय सरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते तं०—पढमसमयसुहुमसंपरायसराग-संजमे चेव अपढमसमयसु०, अथवा चरमसमय सु० अचरम समय सु०. अहवा सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं, तं०—संकिलेसमाणए चेव विसुज्झमाणए चेव. वादरसंपरायसराग-संजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयवादरसं० अपढमसमय वादर

ज्ञानमिति, आह च 'अन्नाणं सो बहिराइणं व तक्कालमणुवलंभाओ। [आचार्यः] न तदन्ते तत्तोच्चिय उवलंभाओतयं नाणं ॥१॥ छाया—अज्ञानं स बधिरादीनामिव तत कालमनुपलम्भात। न तदन्ते तदेवोपलम्भात्त तत ज्ञानम ॥१॥ ति. किन्च– व्यञ्जनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते, सुप्त कर्णविज्ञानवदिति ईहादयोऽपि श्रुतनिश्रिता एव, ननुक्ता, क्रियानन्तानुरोधादिति। 'असुयनिस्सिएऽवि एमेव' ति अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रहभेदेनाश्रुतनिश्रितमपि द्विधैवेति, इदं च श्रोत्रादिप्रभवमेव, यत्तु औत्पत्तिक्यादिश्रुतनिश्रितं तत्रार्थावग्रहःसम्भवति, यदाह—'किहपडि कुक्कुडहीणो जुज्झे बिंबेण उग्गहो ईहा। किं सुसिलिट्ठमवाओ दप्पण संकंत बिंबंति ॥१॥" छाया—कथं प्रतिकुक्कुटहीनो युध्यति बिम्बेनावग्रह ईहा। किं सुश्लिष्टमवाया दर्पणसंक्रान्तबिम्बमिति ॥ १ ॥ न तु व्यञ्जनावग्रहः तस्येन्द्रियाश्रितत्वात, बुद्धीनान्तु मानसत्वात्, ततो बुद्धिष्वोऽन्यत्र व्यंजनावग्रहोमन्तव्य इति । 'सुयनाणे' इत्यादि' श्रुतज्ञानपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि तेषु प्रविष्टं—तदभ्यन्तरं तत स्वरूपमित्यर्थः, गणधरकृतं "उप्पन्ने इवे" त्यादि मातृका पदत्रयप्रभवं वा ध्रुव श्रुतं वा आचारादि, यत्पुनः—स्थविरकृतं मातृकापदत्रयव्यतिरिक्तव्याकरण नियतमध्रुवश्रुतं वोत्तराध्ययनादि तदंग बाह्यमिति ॥ आहच—"गणहर १ थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा २। धुव १ चल विसेसणाओ २ अंगाणंगेसुनाणत्तं" ॥१॥ छाया—गणधर स्थविरादिकृतं आदेशात् मुक्तव्याकरणतो वा। ध्रुवचल विशेषणाद्वा अङ्गानङ्गयो. नानात्वम ॥१॥ 'आवस्सए' त्यादि अवश्यं कर्त्तव्यमित्यावश्यकं—सामायिकादि षड्विधम

आह च-"समणेण सावएण य अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहो-णिसस्स य तम्हा आवस्सयनाम ॥१॥छाया-श्रमणेन श्रावकेण चावश्य कर्त्तव्यं भवति यस्मात । अंतऽर्होनिशस्य तस्मादावश्यक नाम॥१॥ आवश्यकाद् व्यतिरिक्तं ततो यदन्यदिति । "आवस्सगवत्तिरित्तं" इत्यादि यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत कालेन निर्वृत्त कालिकम्--उत्तराध्ययनादि, यत पुन. कालवेलावर्जपठ्यतेतदुत्क पालिकादित्युत्करकालिक-दशवैकालिकादीति ॥ उक्तं ज्ञानं, चारित्र प्रस्ता-वयति—

मूलः—दुविहे धम्मे पं० तं०—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव. सुयधम्मे दुविहे पं० त०—सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे दुविहे पं, तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव, दुविहे संजमे पं० तं०—सरागसंजमे चेव वीतरागसंजमे चेव, सरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सुहुमसंपराय सरागसंजमे चेव. बादरसंपरायसरागसंजमे चेव. सुहुमसंपराय सरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते तं०—पढमसमयसुहुमसंपरायसराग-संजमे चेव अपढमसमयसु०, अथवा चरमसमय सु० अचरम समय सु०. अहवा सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं, तं०—संकिलेसमाणए चेव विसुज्झमाणए चेव. बादरसंपरायसराग-संजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयबादरसं० अपढमसमय बादर

हत्यानमिति, आह च 'अन्नाणं सो बहिराइण व तक्कालमणुवलंभाओ।
[आचार्य.] न तदन्ते तत्तोच्चिय उवलभाओतयं नाणं ॥१॥ छाया—
अज्ञान स बधिरादीनामिव तत कालमनुपलम्भात। न तदन्ते तदेवोपलम्भात्त
तत ज्ञानम् ॥१॥ ति, किंच - व्यंजनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्मा-
व्यक्तत्वात् नोपलभ्यते, सुप्त व्यक्तविज्ञानवदिति ईहादयोऽपि श्रुतनिश्रिता
एव, तथाहि, दिव्यानकानुरोधादिति। 'असुयनिस्सिएऽवि एमेव' ति अ-
र्थावग्रहव्यंजनावग्रहभेदेनाश्रुतनिश्रितमपि द्विधैवेति, इद च श्रोत्रादिप्र-
भवमेव, यत्तु औत्पत्तिक्याद्यश्रुतनिश्रितं तत्रार्थावग्रह सम्भवति, यदाह—
"कह पडिकुक्कडहीणो जुज्झे बिंबेण उग्गहो ईहा। किं सुसिलिट्ठमवाओ द-
प्पण संकंत बिंबति ॥१॥" छाया—कथं प्रतिकुक्कटहीनो युध्यति बिम्बेनाव-
ग्रह ईहा। किं सुश्लिष्टमपाया दर्पणसंक्रान्तबिम्बमिति ॥ १ ॥ न तु
व्यंजनावग्रह. तस्येन्द्रियाश्रितत्वात, बुद्धीनान्तु मानसत्वात्, ततो
बुद्धिभ्योऽन्यत्र व्यंजनावग्रहोमन्तव्य इति। 'सुयणाणे' इत्यादि
प्रवचनपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि तेषु प्रविष्ट—तदभ्यन्तरं तत स्वरूपमित्यर्थ:,
गणधरकृत "उप्पन्ने इवे" त्यादि मातृका पदत्रयप्रभवं वा ध्रुव श्रुतं
वा आचारादि, गतपुनः—स्थविरकृतं मातृकापदत्रयव्यतिरिक्तव्याकरण
निबद्धमध्रुवश्रुतं वोत्तराध्ययनादि तदग बाह्यमिति ॥ आह च—"गणहर
थेराइकय आएसा मुक्कवागरणओ वा ॥ धुव १ चल विसेसणाओ २
अंगाणंगेसुनाणत्त" ॥१॥ छाया—गणधर स्थविरादिकृतं आदेशात् मुक्त
व्याकरणतो वा। ध्रुव चल विशेषणाद्वा अङ्गानङ्गयो. नानात्वम् ॥१॥
"आवस्सए" इत्यादि अवश्यं कर्तव्यमावश्यकं—सामायिकादि षड्विधम

आह-"समणेण सावएण य अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहो-णिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम ॥१॥ छाया-श्रमणेन श्रावकेण चावश्य कर्त्तव्यं भवति यस्मात्। अन्तेऽहोनिशस्य तस्मादावश्यकं नाम॥१॥ आवश्यकाद् व्यतिरिक्तं ततो यदन्यदिति। "आवस्सगवतिरित्ते" इत्यादि यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत् कालेन निर्वृत्तं कालिकम्-उत्तराध्ययनादि, यत्र पुनः कालवेलावर्जपठ्यते तदुत्कालिकादित्युत्कालिकं-दशकालिकादीति॥ उक्तं ज्ञानं, चारित्रं प्ररूपयति—

मूलः—दुविहे धम्मे पं० तं०—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव, सुयधम्मे दुविहे पं० तं०—सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे दुविहे पं, तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव, दुविहे संजमे पं० तं०—सरागसंजमे चेव वीतरागसंजमे चेव, सरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सुहुमसंपराय सरागसंजमे चेव, बादरसंपरायसरागसंजमे चेव, सुहुमसंपराय सरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते तं०—पढमसमयसुहुमसंपरायसराग-संजमे चेव अपढमसमयसु०, अथवा चरमसमय सु० अचरम समय सु०, अहवा सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पं, तं०—संकिलेसमाणए चेव विसुज्झमाणए चेव, बादरसंपरायसराग-संजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयबादरसं० अपढमसमय बादर

सं०—अहवा चरिमसमय० अचरिम समय०, अहवा बायरसंपराय सरागसंजमे दुविहे पं० तं०—पडिवाति चेव अपडिवाति चेव, वीयरागसंजमे दुविहे पं० तं०—उवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव खीणकसायवीयरागसंजमे चेव, उवसंतकसायवीयराग संजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमयउवसंतकसायवीतरागसंजमे चेव, अपढमसमयउव०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, खीणकसायवीतरागसंजमे दुविहे पं० तं०—छउमत्थखीणकसाय वीयरागसंजमे चेव केवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव, छउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सयबुद्ध छउमत्थखीणकसाय० बुद्धबोहियछउमत्थ०, सयंबुद्धछउमत्थ० दुविहे प० तं०—पढमसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, बुद्धबोहियछउमत्थखीण० दुविहे पं० तं०—पढमसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, केवलिखीणकसायवीतरागसंजमे दुविहे पं० तं०—सजोगि केवलिखीणकसाय० अजोगिकेवलिखीणकसायवीयराग०, सजोगिकेवलिखीणकसायसंजमे दुविहे पं० तं०— पढमसमय० अपढमसमय०, अहवा चरिमसमय० अचरिमसमय०, अजोगि केवलिखीणकसाय० संजमे दुविहे पं० तं०—पढमसमय०

छाया —क्रोधाद्या संपरायास्तैर्यु त संपरैति संसारम्। स च लोभकषायरूपः उपशमकस्य चपकस्य वा यस्य स सूक्ष्म संपराय साधुस्तस्य सरागसंयमः, विशेषणसमासो वा भणनीय इति, बादरः—स्थूराः सम्परायाः कषाया यस्य साधो यस्मिन् वा संयमेः स तथा—सूक्ष्मसम्परायप्राचीनगुणस्थानकेषु, शेषं प्रागवदिति।'सुहुमे' त्यादि, सूत्रद्वये प्रथमाप्रथमसमयादिविभागः केवलज्ञानवदिति।'अहवे' त्यादि, संक्लिश्यमान' संयम उपशमश्रेण्या प्रतिपतत, विशुद्धयमानस्तासुपशमश्रेणी वा समारोहत इति। 'बादरे' त्यादि सूत्रद्वयं, बादर सम्पराय सरागसंयमस्य प्रथमाप्रथमसमयता संयम प्रतिपत्तिकालापेक्षया चरमाचरमसमयतातु यदनन्तरं सूक्ष्मसम्परायता असंयतत्वं वा भविष्यति तदपेक्षयेति, 'अहवे' त्यादि, प्रतिपाती उपशमकस्यान्यस्य वा अप्रतिपातीक्षपकस्येति । सरागसयम उक्तोऽतो वीतरागसंयममाह — 'वीयरागे' त्यादि, उपशान्ताः प्रदेशतोऽप्यवेद्यमाना कषाया यस्य यस्मिन् वा स तथा साधु. सयमोवेति —एकादश गुणस्थानवर्त्तीति, क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्त्तीति, 'उवसंते' त्योदि सूत्रद्वयं प्रागिव ' खीणे' त्यादि, छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तत् छद्मज्ञानावरणादिघातिकर्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थ'—अकेवली, शेषं तथैव, केवलम् उक्तस्वरूपं ज्ञानं च दर्शनं चास्यास्तीति केवलीति। 'छउमत्थे' त्यादि, स्वय बुद्धादिस्वरूप प्रागिवेति, 'सयबुद्ध' त्यादि नव सूत्राणि गतार्थान्येवेति ॥ (स्थानाङ्ग सूत्र ७२ उद्देश १)

मूलः—"अथवा तिविधे ववसाते पं० तं०—पच्चक्खे पच्च- तिते आणुगामिए ॥ ५,

टीका :—व्यवसायो-निश्चय., स च प्रत्यक्षोऽवधिमन'पर्यायकेवलाख्य, प्रत्ययात्—इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणान्निमित्ताज्जात प्रात्यायिक: साध्यम्—अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतु सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकम्-अनुमान तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति, अथवा प्रत्यक्ष स्वयदर्शनलक्षण प्रात्ययिक'-आप्तवचनप्रभव, तृतीयस्तथैववेति ५। (स्थानांग सू० स्थान ३ उ ३ सू १८५)

मूल:—चउव्विहेणाते पं० तं०—आहरणे आहणतद्देसे आहरणतद्दोसे उवन्नासोवणए १ आहरणे चउव्विहे पं० तं०—अवाते उवाते ठवणाकम्मे पडुप्पन्नविणासी २, आहरणतद्देसे चउव्विहे पं० तं०—अणुसिट्ठी उवालंभे पुच्छा निस्सावयणे ३, आहरणतद्दोसे चउव्विहे पं० त०—अधम्मजुत्ते पडिलोमे अंतोवणीते दुरुवणीते ४ उवन्नासोवणए चउव्विहे पं० त०—तव्वत्थुते तदन्नवत्थुत्ते पडिनिभे हेतु ५ हेऊचउव्विहे-पं० तं०—जावते थावते वसते लूसते, अहवा हेऊचउव्विहे प० तं०—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे, अहवा हेऊचउव्विहे पं० तं०—अत्थित्तंअत्थिसो हेऊ १ अत्थित्तंणत्थि सो हेऊ २ णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ ३ णत्थित्तं णत्थित सो हेऊ ४ (सू० ३३८)

टीका .—तत्र ज्ञायते अस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति अधिकरणे क्तप्रत्ययोपादानात् ज्ञातं—दृष्टान्त:, साधनसद्भावे साध्यस्यावश्यभाव:

साध्याभावे वा साधनस्यावश्यमभाव इत्युपदर्शनलक्षणो, यदाह—"साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिना। ख्याप्यते यत्र दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥१॥" इति, तत्र साधर्म्यदृष्टान्तोऽग्निरत्र धूमाद् यथा महानस इति, वैधर्म्य दृष्टान्तस्तु अग्न्यभावे धूमो न भवति, यथा जलाशये इति, अथवा अख्यानकरूपं ज्ञातं तच्च चरितकल्पितभेदात् द्विधा, तत्र चरितं यथा निदानं दु खाय ब्रह्मदत्तस्येव, कल्पितं यथा प्रमादवतामनित्यं यौवनादीतिदेशनीयं, यथा पाण्डुपत्रेण किशलयानां देशितं, तथा हि—'जह तुब्भे तह अम्हे तुब्भेऽविय होहिहा जहा अम्हो अप्पाहेइ पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥१॥ छाया—यथा यूयं तथा वयं यूयमपि भविष्यथ यथा वयम् शिक्षयति पततूपांडुपत्रं किशलयान् । इति, अथवोपमानमात्र ज्ञातं सुकुमारः करः किशलयमिवेत्यादिवत् अथवा ज्ञातं-उपपत्तिमात्रं ज्ञातहेतुत्वात्, कस्मोद्यवाः क्रीयन्ते ? यस्मान्मुधा न लभ्यंते इत्यादिर्वादिति, एवमनेकधा साध्यप्रत्यायनस्वरूपं ज्ञातमुपाधिभेदात् चतुर्विधंदर्शयति–तत्र आ–अभिविधिना ह्रियते प्रतीतौ नीयते अप्रतीतोऽर्थोऽनेनेत्याहरणं, यत्र समुदित एव दार्ष्टान्तिकोऽर्थः उपनीयते यथापापं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्येवेति, तथा तस्य-आहरणार्थस्यदेशस्तद्देशः स चासावुपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वाव् आहरणशब्दस्य पूर्वनिपाते आहरणतद्देश इति, भावार्थश्चात्र–यत्र-दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकार्थस्योपनयनं क्रियते तत्तद्देशोदाहरणमिति, यथा चन्द्र इव मुखमस्या इति, इह हि चन्द्रे सौम्यत्वलक्षनणेनैव देशेन मुखस्योपनयनं नानिष्टेन नयननासावर्जितत्वकलंकादिनेति, तथा तस्यैव-आहरणस्य सम्बन्धीसाक्षात् प्रसंग सम्पन्नो वा दोषस्तद्दोष' स चासौ धर्म्मे धर्मिणः उपचारादाहरणं चेति प्राकृतत्वेन पूर्वनिपातोदाहरण तद्दोष

इति, अथवा तस्य—आहरणस्यदोषो यस्मिंस्तत्तथा, शेषं तथैव, अयमत्र भावार्थ —यत् साध्य विकलत्वादिदोपदुष्ट तद्दोप.हरण, यथा नित्य· शब्दोऽमूर्त्तत्वात् घटवत् इहसाध्यसाधनवैकल्यं नामदृष्टान्तदोपो, यच्चासभ्यादिवचनरूपं तदपि तद्दोषाहरण, यथा सर्वथाऽहमसत्यं—परिहरामि गुरुमस्तककर्त न·ादिति, यद् वा साध्यसिद्धि कुर्वदपि दोषा-न्तरमुपनयति तदपि तदेव, यथा सत्यंधर्ममिच्छन्ति लौकिक मुनयोऽपि—"वरंकूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः । वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ।। १ ।। इतिवचन वक्तृनारदवदिति, अनेन च श्रोतु पुत्र क्रतुप्रभृतिषु प्राय संसारकारणेपुधर्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति, यथा वा—बुद्धिमता केनापि कृतमिद जगत् सन्निवेशविशेषवत्वात् घटवत् सचेश्वर इति, अनेन हि स बुद्धिमान् कुम्भकारतुल्योऽनीश्वर सिद्धयतीति, ईश्वरश्च स विवच्चित इति, तथा वादिना अभिमतार्थसाधनायकृते वस्तूप-न्यासे तद् विघटनाय य प्रतिवादिनाविरुद्धार्थोपनय क्रियते पर्यनु योगोपन्यासे वा य उत्तरोपनय स उपन्यासोपनय, उत्तररूपमुपपत्तिमात्र मपि ज्ञातभेदो ज्ञातहेतुत्वादिति यथा अकर्त्ता आत्मा अमूर्त्तत्वात् आकाश-वदित्युक्ते अन्य आह—आकाशवदेवाभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टचैतदिति, यथा वा मांसभक्षणमदुष्ट प्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत् अत्राहान्य.—ओदनादि वदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति, यथा वा त्यक्तसङ्गा वस्त्र पात्रा-दि सग्रहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत्, अत्राह कुण्डिकाद्यपि ते न गृह्ण ति तद्-वदेवेति, तथा कस्मात् कर्मकुरुषे यस्माद् धनार्थीति इह प्रथमं ज्ञातं समग्र-साधर्म्यं द्वितीयं देशसाधर्म्यं तृतीयं सदोष चतुर्थं प्रतिवाद्युत्तररूपमित्यय मेषां स्वरूपविभाग इति, इह देशतः संवाद गाथा—चरियं च कप्पिय वा

दुविहं तत्तो चउव्विहे कक्केक्कं । आहरणे तद्देसे तद्दोसे चेवुवन्नासा ॥१॥
छाया—चरितं च काल्पिकं वा द्विविधं ततश्चतुर्विधमेकैकं आहरणं तद्देशः तद्दोषश्चैव उपन्यासः ॥ १ ॥ इति, "अवाये" अपायः—अनर्थः स यत्र द्रव्यादिष्वभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेष्वस्त्यपायो विवक्षितद्रव्यादि-विशेषेष्विव, हेयता वाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमपाय इति, स च चतुर्धाद्रव्यादिभिः—तत्र द्रव्यात् द्रव्ये वाऽपायो द्रव्यमेव वा तत् कारणत्वादपायोद्रव्यापाय, एतद् हेयतासाधकं एतत्साधकं वाऽऽ-हरणमपि तथोच्यते, तत् प्रयोगो—द्रव्यापाय परिहार्य्यस्तत्र वाऽपायो वर्तते-देशान्तरगमनेनोपार्जितद्रविणयोस्तल्लोभात् परस्परमारणपरिणतयो स्व ग्रामाद् बहिः प्राप्तावनुतापात् ह्रदत्यक्तमत्स्यगिलित तद् वित्तयोर्मत्स्यबन्ध-कपार्श्वान् गृहीतस्य तस्यमत्स्यस्य विदारणेऽवाप्त तद्द्रव्यलुब्धभगिन्या मत्स्य-च्छेदकशस्त्राभिघातेन तदुद्दालनप्रवृत्तिमारित मातृकायास्तथाविधव्यतिकर-दर्शनोत्पन्नसंवेगात् प्रतिपन्नप्रव्रज्ययोर्भ्रातृवणिजोरिव, तत् परिहारश्च प्रव्रज्यया तत्त्यागादिति, आहरणता चास्यदेशेनोपनयस्याविवक्षणादिति, तथाक्षेत्रात क्षेत्रे वा क्षेत्रमेव वाऽपाय क्षेत्रापाय, शेषं तथैव, एवमुत्तरत्रापि तत् प्रयोग'—अपायवत् क्षेत्रं वर्जयेत् जरासन्धाभिधानप्रतिवासुदेवात् सम्भावितापायां मथुरानगरी यथा दशार्हचक्रं वर्जयामासेति, अथवा सम्भ-वत्यपायः स प्रत्यनीक क्षेत्रे ससर्प्पग्रहवत्, कालापायो यथा—सापायकाल वर्जने यतेत, द्वैपायनो द्वारकामावर्षद्वादशकाद् धक्ष्यतीति श्रुतनेमिनाथ वचनोद्वादशवर्षलक्षणसापायकालपरिजिहीर्षयोत्तरापथप्रवृत्तो द्वैपा-यनोयथेति, अथवा सापायोऽपिभवति कालो रुद्रादिवदिति, तथा भावापा-यथाभावापायं परिहरेत् महानागवत् नागदत्तक्षुल्लकवद् वेति ,तथा हि—

किल कश्चित् क्षपकः प्रस्तुतपारणक सक्षुल्लक· समारब्धभिक्षार्थभ्रमणक कथञ्चिन्मारितमण्डूकिक क्षुल्लकप्रेरितोऽप्रतिपन्नतद्वचनः पुनरावश्यक काले स्मारिततदर्थे समुत्पन्नकोपः क्षुल्लकोपघातायाभ्युत्थितो वेगादागच्छन् स्तम्भ आपतितोमृतो ज्योतिष्केषूत्पन्नोऽनन्तरच्युतो जातिस्मरणदृष्टिविषसर्प-तयोत्पन्न· सर्प्पेदष्टमृतपुत्रेण च सर्प्पेषुकुपितेन राज्ञाऽऽदिष्टजनमार्यमाणेषु नागेपु नागविनाशकनरेण केनाप्योषधिबलादाकृष्यमाणो दृष्टकोपविपाकतया च मद्दृष्टिविषेण मा घातकपुरुषविघातो भवत्विति भावनया पुच्छतो निर्गच्छन् यथानिगमश्च खण्ड्यमानः कोपलक्षणभावापाय परिहृतवानिति, तथा स एवानन्तर नागदत्ताभिधानराजसुततयोत्पन्नो बालत्व एव प्रतिपन्नप्रव्रज्योऽत्यन्तसंविग्नस्तिर्यग्भवाभ्यासाच्चात्यन्त क्षुधालुरादित्योदयादस्तमयं यावद् भोजनशीलोऽसाधारणगुणावर्जित देवताभिवंदितोऽत एव तद्गच्छगतमासादिक्षपकचतुष्टयस्येर्ष्याविषयीभूतो विनयार्थं तेषामुपदर्शितस्वार्थानीतभोजनः तैश्च मत्सरादभोजन मध्यनिष्ठ्यूतनिष्ठीवनोऽत्यन्तोपशान्तचित्तवृत्तितया य सञ्जातकेवल. पुर्देवतावन्दितस्तेषामपि क्षपकाणासंवेगहेतुत्वेन केवलज्ञानदर्शनसमृद्धि सपादक· कोपरूप भावापायं परिजहारेति अथवा कोपादिलक्षणो भावोऽपायोभवति क्षपकस्येवेति, गाथे इह – दव्वावाए दुन्नि उ वाणियगा भायरो धणनिमित्तं। वहपरिणयमेक्कमिक्क दहंमि मच्छेण निव्वेओ ॥ १ ॥ खित्तंमि अवक्कमण दसारवग्गस्स होइ अवरेण। दीवयणो य काले भावे मण्डुक्कियाखमओ ॥ २ ॥ छाया – द्रव्यापाये द्वौ वणिग्भ्रातरौ धननिमित्तम्। वधपरिणतौ एकैकस्मिन् ह्रदे मत्स्येन निर्वेदः ॥ १ ॥ क्षेत्रेऽपक्रमण दशार्ह वर्गस्य भवत्यपरस्याम्। द्वीपायनश्च काले भावे मण्डूकिका क्षपक ॥२॥ इति,

'उबाए' त्ति उपायः—उपेयं प्रतिपुरुषव्यापारादिकासाधनसामग्री स यत्र द्रव्यादावुपेये अस्तीत्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेष्वस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्, उपादेयता वाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय इति, सोऽपिद्रव्यादिभिश्चतुर्द्धैव, तत्र द्रव्यस्य सुवर्णादे प्रासुकोदकादेर्वा द्रव्यमेव वा उपायो द्रव्योपाय, एतत्साधनमेतदुपादेयता साधनं वाऽऽहरणमपि तथोच्यते, तत प्रयोगश्चैवम् अस्तिसुवर्णादिषूपायः उपायेनैव वा सुवर्णादौ प्रवर्त्तितव्यं, तथाविधधातुवादसिद्धादिवदिति, एवंक्षेत्रोपाय'—क्षेत्रपरिकर्मणोपायो यथा अस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधुव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्तितव्यमत्र तथा विधान्यक्षेत्रवादति, एवं कालोपाय—कालज्ञनोपाय, यथा अस्तिकालस्य ज्ञाने उपायः धान्यादेरिव, जानीहि वा कालं घटिकाच्छायादि नोपायेन तथा भूतगणितज्ञवदिति, एवं भावोपायो यथा भावज्ञाने उपायोऽस्ति भावं वोपायत्तो जानीहि, वृहत कुमारिका कथाकथनेन विज्ञातचौरादिभावाभयकुमारवदिति, तथाहि—किल राजगृहनगरस्वामिनः श्रेणिकराजस्य पुत्रोऽभयकुमाराभिधानो देवता प्रसादलब्धसर्वर्त्तुकफलादिम्मृद्धारामस्याम्रफलानां अकालाम्रफलदोहदवद्भार्य्यादोहद पूरणार्थं चाण्डालचौरेणापहरणे कृते चौरपरिज्ञान र्थं नाट्यदर्शननिमित्तमिलितवहुजनमध्ये बृहत कुमारिका कथामचकथत्, तथाहि काचिद् वृद्धकुमारिका वाञ्छितवरलाभायकामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता सद्भावकथने विवाहितया पत्या अपरिभुक्तया मतपार्श्वे समागन्तव्यमित्यभ्युपगमं कारियित्वा- ततः कदाचित् विवाहिता सती पतिमापृच्छ्य रात्रावाराम पतिपार्श्वे

गच्छन्ती चौरराक्षसाभ्यां गृहीता सद्भावकथने प्रतिनिवृत्तया भवत्पार्श्वे आगतव्यमिति कृताभ्युपगमामुक्ता आरामेगता आरामिकेण सत्यप्रतिज्ञेत्यखण्डितशीलाविसर्जिता इतराभ्यामपि तथैव विसर्जिता पतिसमीपमागतेति, ततो भो लोका पत्यादीना मध्ये को दुष्करकारक इति चासौ पप्रच्छ तत ईर्ष्यालुप्रभृतय: ! पत्यादीन् दुष्करकारित्वेनाभिदधु , चौरचाण्डालस्तु चौरानिति, ततोऽसावनेनोपायेनभावमुपलभ्य चौर इति कृत्वा तं बन्धयामासेति, अत्रापि गाथे 'एमेव चउविगप्पो होइ उवाओऽवि तत्थ दव्वम्मि। धाउव्वाओ पढमो णंगलकुलिएहिं खेत्तं तु ॥१॥ कालोऽवि नालियाईहिं होइ भावम्मि पंडिओ अभओ। चोरस्स कए णट्टि य वड्ढकुमारिं परिकहिंसु ॥२॥' छाया—एवमेव चतुर्विकल्पो भवत्युपायोऽपि तत्रद्रव्येधातुवाद: प्रथम' लांगूलकुलिकै क्षेत्रन्तु ॥१॥ कालोऽपि नालिकादिभि भवति भावे पंडितोऽभय चोरस्य कृते नृत्ये वृद्धकुमारी कथा परिचख्यौ ॥२॥ इति, "ठवणा कम्मे" त्ति स्थापनं प्रतिष्ठापनं स्थापना तस्या: कर्म—करण स्थापना कर्म्मे येन ज्ञातेन परमत दूषयित्वा स्वमतस्थापना क्रियते तत्स्थापनाकर्मेति भाव तच्च द्वितीयाङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनं पुण्डरीकाख्यं, तत्र ह्युक्तमस्ति—काचित् पुष्करिणी कर्दमप्रचुरजला तन्मध्यदेशे महत्पुण्डरीक तदुद्धरणार्थं चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वार पुरुषा सकर्दममार्गे. प्रवेष्टुमारब्धा , ते चाकृततदुद्धरणा एवं पङ्के निमग्ना , अन्यस्त तटस्थोऽस्पृष्टकर्दम एवामोघवचनतया तदुद्धृतवानिति ज्ञात, उपनयश्चायमत्र-कर्दमस्थानीया विषया पुण्डरीकं राजादिर्भव्यपुरुष: चत्वार: पुरुषा परतीर्थिका पंचम' पुरुष: साधु: अमोघवचनं धर्मदेशना पुष्करिणी संसार: तदुद्धारोनिर्वाणमिति, अनेन च ज्ञातेन विषयाभिष्वङ्गवता तीर्थिकानां भ-

व्यस्य संसारानुत्तारकत्वं साधोश्च तद्विपर्य्ययं वदता आचार्य्येण परमत दूपणेन स्वमतं स्थापितमतो भवतीदं ज्ञातं स्थापना कार्म्मेति, अथवाऽऽपन्नं दूषणमपोह्य स्वभिमतस्थापना कार्य्येत्येवंविधार्थप्रतिपत्तिर्यतो जायते तत् स्थपनाकर्म्म, किल मालाकारेण केनापि राजमार्गपुरीपोत्सर्गलक्षणापराधापोहाय तत् स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन किमिदमिति पृच्छतो लोकस्य हिंगु शिवो देवोऽयमिति वदता व्यन्तरायतन स्थापनाकृतेति, एतस्मात् किलाख्यानकादुक्तार्थ प्रतीयते इतीदं स्थापनाकर्मेति, तथा नित्यानित्यं वस्त्वित्य संगतं जिनमतं विरुद्धधर्माध्यासादिति दूषणमापन्नमेतद् व्यपोहायोच्यतेविरुद्धधर्माध्यासो न भेदनिबन्धनं विकल्पस्येव, विकल्पोहि क्रमभाविवर्णोल्लेखवान् विरुद्धधर्मोपेतो भवति, न च कथञ्चिदेको न भवति, खण्डशो विभक्तस्य तस्य स्वरूपलाभाभावात् प्रवृतिनिवृत्योरकारणतान्यादसमंजसं चैवमिति, एवञ्च विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदकत्वे सति न केवल नित्यानित्यं न भवतीति दूषणमपोढमपि तु सर्वमनेकान्तात्मकमिति विकल्पज्ञानेन स्वमतं प्रसाधितम, अतो विकल्पज्ञात स्वमतस्थापनेन स्थापनाकर्म्मेति अत्र निर्युक्तिगाथा —"ठवणाकम्मं एकं [अभेदमित्यर्थं] दिट्ठंतो तत्थ पुंडरीयंतु । अहवाऽव सन्नढकण हिंगुसिवकयं उदाहरणं ॥१॥" छाया— स्थापनाकर्म अभिन्नं दृष्टान्तस्तत्र पुण्डरीकं तु—अथवापि सञ्ज्ञाच्छादकहिंगुशिवदेवकृतमुदाहरणम् ॥१॥ इति, सव्यभिचारो हेतुये सहासोपन्यस्तस्तस्य समथेनार्थ यो दृष्टान्त पुनरुपन्यस्यते स स्थापनकर्म्मेति, उक्तञ्च—सव्वभिचारं हेउ सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं । उवबूहइ सप्पसर स।मत्थं चऽप्पणो णाउं ॥१॥" छाया—सव्यभिचारं हेतुं सहसोक्त्वा तमेवान्यैः, उपबृंहयति सप्रसंगं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा ॥१॥ ति, तद् यथा—अनित्यः शब्दः कृत-

कत्वात् , अथ वर्णात्मके शब्दे कृतकत्व न विद्यते वर्णानां नित्यतयाऽभि हितत्वादिति व्यभिचार., समर्थनापुनर्वर्णात्माशब्दः कृतको निजकारणभेदेन भिद्यमानत्वाद् घटपटादिवत् , घटादिदृष्टान्तेन हि वर्णानां कृतकत्वं स्थापितमिति भवत्ययं स्थापनाकर्मेति, 'पडुप्पन्नविणासि' ति'—प्रत्युपन्नस्य तत्कालोत्पन्नवस्तुनो विनाशोऽभिधेयतया यत्रास्ति तत् प्रत्युत्पन्नविनाशीति, यथा केनापि वणिजा दुहित्रादिस्त्रीपरिवारशीलविनाशरक्षार्थं तदासक्तिनिमित्तास्वगृहासन्नराजगान्धर्विकगुणनिकाया स्वगृहहे कुलदेवतानिवेशनात् गुणनिकाकाले तस्या देवताया अग्रत आतोद्यानादव्याजेन राजापराधपरिहारेण विनाशः कृत , एवं गुरुणा शिष्यान् कचिद् वस्तुन्यध्युपपद्यमानानुपलभ्य तस्य तद्वासक्तिनिमित्तत्वमुपहन्तव्यमित्येव प्रत्युत्पन्नविनाशनीयता ज्ञापकत्वात् प्रत्युत्पन्नविनाशिज्ञातता गन्धर्विकाख्यानकस्यावगन्तव्येति, उक्तञ्च होतिपडुप्पन्नविणासणमि गंधव्विया उदाहरणं सो सोऽवि कत्थइ जइ अज्झो वज्जेज्ज नो गुरुणा ॥१॥ छाया—भवति प्रत्युत्पन्नविनाशने गांधर्विकोदाहरणम् शिष्योऽपि कुत्रापि यदि अध्युपपद्येत तदा गुरुणोपायेन वारयितव्य ॥१॥ वारेयव्वो उवाएणं' इति, अथवा अकोत्त आत्मा अमूर्त्त्वात् आकाशवत् इत्युत्पन्ने आत्मनोऽकर्तृत्वापत्तिलक्षणे दूषणे तद् विनाशायोच्यते—कर्त्तैवात्मा कथंचिन्मूर्त्त्वात् देवदत्तवदिति। व्याख्यातमाहरणं, आहरणताचैतद्भेदाना देशेनदोषवत्ताया चोपनयाभावादिति, अथाहरणतद्देशो व्याख्यायते—स च चतुर्द्धा, तत्र अनुशासनमनुशास्ति —सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहण सा विधेयेति यत्रोपदिश्यते साऽनुशास्तिः, यथा गुणवन्तोऽनुशासनीया भवन्ति, यथा साधुलोचनपतितजःकणापनयनेन लोकसम्भावितशीलकलंका तत्क्षालनायराधितदेवताकृतप्राति-

हार्यो चालनीव्यवस्थापितोदकच्छोटनोद्घाटितचंपागोपुरत्रया सुभद्रा अहो शीलवतीति महाजनेनानुशासितेति, उक्तञ्च—आहरणं तद्देसे चउहा अणुसट्ठि तह उवालंभो । पुच्छानिस्सा वयणं होइ सुभद्दाऽणुसट्ठीए ॥१॥ छाया—आहरणं तद्देशे चतुर्धा अनुशास्तिस्तथोपालंभः । पृच्छा निश्रा-वचनं भवति सुभद्रानुशास्तौ ॥ १ ॥ साहुक्कार पुरोयं जह सा अणुसासिया पुरजणेणं । वेयावच्चाईसुवि एव जयंतेव वूहेज्जा ॥ २ ॥ छाया—साधुकार पूर्वकं यथासाऽनुशिष्टापौरजनेन । वैयावृत्यादिष्वपि एवं यतमानानप्युपबृंहयेत् ॥ २ ॥ इति, इहच तथाविधवैयावृत्यकरणादिना-प्युपनय. सम्भवति तत्त्यागेन च महाजनानुशास्ति मात्रेणोपनयः कृत इत्याहरण तद्देश इति, एवमनभिमतांश त्यागादभिमतांशोपनयनमुत्तरे ष्वपि—भावनीयमिति, तथा उपालम्भनं उपालम्भो—भङ्गयन्तरेणानुशासन मेवस यत्राभिधीयते स उपालंभो यथाकश्चिदपराधवृत्तयो विनेयाउपालम्भनीय यथा महावीर समवसरणे सविमानागत चन्द्रादित्योद्योतेन काल विभागम-जानती मृगावती नाम्नी साध्वी स्थिता ततस्तद्गमनेऽतिकालोऽयमिति सम्भ्रान्ता सह साध्वीभिरार्यचन्दना समीपं गता तयाचोपालब्धा—अयुक्त-मिदं भवादृशीनामुत्तमकुलजातानामिति, तथा पृच्छा—प्रश्न. किं कथं केन कृतमित्यादि सा यत्र विधेयतयोपदिश्यते सा पृच्छा यथा प्रच्छनीया ज्ञानिनो निर्णयार्थिभिर्यथा भगवान् कोणिकेन पृष्टः, तथाहि किल कोणिक. श्रेणिकराजपुत्रः श्रमणंभगवन्तं महावीरं पमप्रच्छ । तद् यथाभदंत ! चक्रवर्ति नोऽपरित्यक्त कामाः मृताः कोत्पद्यंते ? भगवताऽभिहितंसप्तमनरकपृथिव्यां, ततोऽसौ वभाण—अह कोत्पत्स्ये ? स्वामिनोक्तं षष्ठ्यां, स उवाच—अहं किं न सप्तम्याम् ? स्वामिनाजगदे—सप्तम्यां चक्रवर्तिनो यान्ति, ततोऽसाव-

भिद्धौ, किमहं न चक्रवर्ता ? यतो ममापि हस्त्यादिकं तत् समानमस्ति, स्वामिना प्रत्यूचे—तव रत्ननिधयो न सन्ति ततऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्र साधन प्रवृत्त कृतमालकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गत इति, तथा ' निस्सावयणे' त्ति निश्रया वचनं निश्रावचनं, अयमर्थः—कमपि सुशिष्यमालम्ब्य यदन्य प्रबोधार्थं वचनं तन्निश्रावचनं तद्यत्र-विधेयतयोच्यते तदाहरणं निश्रावचन यथा असहनान् विनेयान् मार्दव सम्पन्नमन्यमालंव्य किञ्चिद् ब्रूयात्, गौतममाश्रित्य भगवानिवेति तथाहि-किल गौतमतापसादि प्रव्रजितानां केवलोत्पत्तावनुत्पन्न केवलत्वेनाधृतिमन्तं चिरसंश्लिष्टोऽसि गौतम ! चिर परिचितोऽसि गौतम ! मा त्वमधृतिं कार्षी रित्यादिनावचनसंदोहेनानुशासयता अन्येऽप्यनुशासिता' तदनुशास-नार्थं द्रुमपत्रकाध्ययनं च प्रणिन्ये इति, उक्तञ्च—'पुच्छाए कोणिए खलु-निस्सावयणमिगोय मस्सामि । छाया—(पृच्छायां कोणिकः खलु निश्राव-चने गौतमस्वामी) । इति, ॥ व्याख्यातं तद्देशोदाहरणम् । तद्दोषोदाहरणमथ व्याख्यायते, तच्चचतुर्द्धा तत्र 'अहम्मजुत्ते' ति यदुदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादीयते केवलं पापाभिधानस्वरूपं येन चोक्तेन प्रतिपाद्यस्या-धर्मबुद्धिरुपजन्यते तदधर्मयुक्तं तद्यथा उपायेन कार्याणि कुर्य्यात् कोलि-कनलदामवत् , तथाहि—पुत्रग्वादकमत् कोटकमार्गेणोपलब्धबिलवासनामशे-षमत्कोटकानां तप्तजलस्यविले प्रक्षेपणतो मारणदर्शनेन रञ्जितचित्त चणक्यावस्थापितेन चौरग्राहनलदामाभिधानकुविंदेन चौर्य्यसहकारि तालक्षणोपायेन विश्वासिना मिलिताश्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वेव्या पदिता इति, आहरण तद्दोषता चास्याधर्मयुक्तत्वात् तथाविधश्रोतुरधर्मबुद्ध जनकत्वाच्चेति, अत एवं नैवं विधमुदाहर्त्तव्यं यतितेति ' पडिलो ' त्ति

प्रतिकूलं यत्र प्रातिकूल्यमुपदिश्यते यथा शठंप्रति शठत्वं कुर्य्यात् यथाचण्ड-प्रद्योते तदपहरणार्थं तदपहृताभयकुमारश्चकारेति, तद्दापताचास्य प्रातु परापकारकरण।नपुणबुद्धिजनकत्वात्, अथवा धृष्ट प्रतिवादिना द्वावेव राशी जीवश्चाजीवश्चेत्युक्ते तत्प्रतिघातार्थं कश्चिदाह – तृतीयोऽप्यस्ति नोजीवाख्यो गृहकोलिकादिच्छिन्नपुच्छवदिति, अस्यापि तद्दोषताऽपसिद्धांताभिधानादिति, अत्तोवणीए' त्ति आत्मैवोपनीत.—तथा निवेदितो नियोजितो यस्मि स्तत्तथा येन ज्ञातेन परमतदूषणायोपात्तेनात्ममतमेव दुष्टतयोपनीयते यथा पिंगलेनात्मा तदात्मोपनीतं, तथाहि–कथमिदं तडागमभेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टः पिंगलाभिधानः स्थपतिरवोचत् भेदस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निखाते—सतीति अमात्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वान्निखात इति तेनात्मैव नियुक्त', स्ववचनदोषात् तदेवंविधमात्मोपनीतमिति, अत्रोदाहरण यथा सर्वेसत्वा न हन्तव्या इत्यस्यपक्षस्य दूषणाय कश्चिदाह—अन्यधर्मेस्थिता हन्तव्या विष्णुनेवदानवा इत्येव वादिना आत्माहन्तव्यतयोपनीतोधर्मान्तर-स्थितपुरुषाणामिति, तद्दोषता तु प्रतीतैवास्येति 'दुरुवणीए' त्तिदुष्टमुपनीतं–निगमितं योजितमस्मिन्निति दुरुपनीतं परिव्राजकवाक्यवद्, यथाहि किल कश्चित् परिव्राजको जालव्यग्रकरोमत्स्यबन्धाय चलितः केनचित्धूर्त्तेन किञ्चिदुक्तःस्तेन च तस्योत्तरमसङ्गतं दत्तम्, अत्र च वृत्तं 'कथाऽऽकचार्याऽघ नतेननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यांस्तेमेमद्योपदंशान् पिबसि ननु ? युतोवेश्ययायासि वेश्याम् ! दत्त्वाऽरीणां गलेऽह्नि क नु तव रिपवो ? येषु सन्धिं छिनद्मि, चौरस्त्वंद्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासी सुतोऽस्मि" इत्येवं प्रकृतसाध्यानुपयोगिस्वमत दूषणावहं यद् तद् दार्ष्टान्तिकेन सह साधर्म्याभावात् दुरुपनीतमिति,

यथा नित्य शब्दो घटवद् इह घटे नित्यत्व नास्त्येवेति कुतस्तत् साधर्म्याच्छब्दस्य नित्यत्वमस्तु ? अपित्वनित्यत्वात्घटस्य तत्साधर्म्याच्छब्दस्यानित्यत्वमेवानभिमत सिध्यतीति साध्यानुपयोगीदमुदाहरणम् , तथा सन्तानोच्छेदोमोक्षो दीपस्येवेत्यभ्युपगमे दीपदृष्टान्तादनादिमतोऽपिसन्तानस्यावस्तुता प्रतीयते, तथाहि—दीपस्यात्मनश्च सन्तानोच्छेद उत्तरक्षणाजनकत्वात् , तत्त्वे चार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्वाभावादन्त्यक्षणस्यावस्तुत्वम् , अवस्त्वजनकत्वात् पूर्वक्षणस्यापि तत एव पूर्वतरस्यापीत्येव समस्तस्यापि सन्तानस्यावस्तुत्वम् । अथक्षणान्तरानारंभेऽपि स्वगोचर ज्ञानजनन लक्षणार्थक्रियाकारित्वादन्त्यक्षणो वस्तु भविष्यति, नैवम्. एवं हि भूतभाविपर्याय परम्पराप योगिज्ञानं स्वविषयमुत्पादयतीति वस्तुत्वं स्वीकुर्य्यात् , तन्न क्षणान्तरानारभे वस्तुत्व मित्यतो भवति दीपज्ञातं स्वमतदूषणावहमिति, अथवा अनित्य शब्द कृतकत्वाद् घटवदिति वक्तव्ये सम्भ्रमादनित्योघट कृतकत्वाछब्दवदिति वदतो दुरुपनीतमिति विपर्ययोपनयनादिति अत्र गाथा —'पढमं अहम्मजुत्त पडिलोमं अत्तणो उवन्नासो दुरुवणिय च चउत्थ अहम्मजुत्तमि नलदामो । १ ॥ छाया—प्रथममधर्मयुक्त प्रतिलोमआत्मन उपन्यास:, दुरुपनीत च चतुर्थमधमयुक्ते नलदाम. ॥ १ ॥ पडिलोमे जह अभओ पज्जोयं हरइ अवहिओ संतो' इति "अत्तउवन्नासंमि य तलायभेयमि पिंगलो थवई । अणिमिसगेण्हणभिक्खुग दुरुवणीए उदाहरण ॥ १ । " छाया—प्रतिलोम्नि यथाऽभय. प्रद्योत हरति अपहृत सन् । आत्मोपन्यासे च तडाकभेदे पिंगल स्थपति । अनिमेषग्राहकभिक्षुदुरुपनीते उदाहरणम् ॥ १ ॥ इति, उक्त आहरणतद्दोषोऽधनोपन्यासोपनय उच्यते स च 'चतुर्द्धा, तत्र

तव्वत्थुए, त्ति तदेव--परोपन्यस्तसाधन वस्त्विति - उत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तद्वस्तुकोऽथवा तदेव—परोपन्यस्तं वस्तु तद्वस्तु तदेव तद्वस्तुकं तद्युक्त उपन्यासोपनयोऽपि तद्वस्तुक इत्युच्यते एवमुत्तरत्रापि, यथा कश्चिदाह—समुद्रतटे महान् वृक्षोऽस्ति तच्छाखा जलस्थलयोरुपरिस्थिताः, तत्पत्राणि च यानि जले निपतंति तानि जलचरा जीवाभवंति यानि च स्थले निपतंति तानि स्थलचरा इति. अन्यस्तदुपन्यस्तमवे तरुपत्रपतनवस्तु गृहीत्वा तदुक्तं विघटयति, यदुत यानि पुनर्मध्ये तेषां का वार्त्तत्येतदुपपत्तिमात्रमुत्तरभूतं तद्वस्तुक उपन्यासोपनयो, ज्ञातत्त्वं चास्य ज्ञातनिमित्तत्त्वाद्, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेतत्, तथाहि एवं प्रयोगोऽस्य—जलस्थलपतितपत्राणि न जलचरादिसत्वा सम्भवन्ति, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत् , तन्मध्यपतितपत्राणां हि जलस्थलपतितपत्रतजलचरत्वादिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसंगो, नचोभयरुपा सत्वा अभ्युपगता इति , अथवा नित्यो जीव अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युक्ते आह— अनित्य एवास्तु अमूर्त्ततत्वात कर्मवदिति । तथा ' तयन्नवत्थुए ' ति तस्मात् परोपन्यस्ताद् वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुको यथा जले पतितानि जलचरा इत्युक्ते एतत् विघटनाय पतनादन्यदुत्तरमाह—यानि पुन. पार्नायत्वाखादति नयति वा तानि कि भवन्ति ? न किञ्चिदित्यर्थोऽयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्त , अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेष , तथाहि—न जलस्थलपतितानि पत्राणि जलचरादिसत्वा सम्भवंति, मनुष्याद्याश्रितानीव, अयमभिप्रायो यथा जलाद्याश्रितत्वात् जलचरादितया तानि सम्पद्यंते तथा मनुष्याद्याश्रिततया मनुष्यादिभवयूकादितयाऽपि सम्पद्यताम् , आश्रितत्वस्याविशेपात् , न च तानि तथाऽभ्युपगम्यन्ते इति जलादि गतानामपि ज-

लचरत्वाद्यसम्भव इति, तथा 'पडिनिभे त्ति यत्रोपन्यासोपनये वादिनो-पन्यस्तवस्तुन. सदृशं वस्तूत्तरदानायोपनीयते स प्रतिनिभो यथा कोऽपि प्रतिजानीते यदुत—यो मामपूर्वं श्रावयति तस्मै लक्ष्यमूल्यमिदं कटोरकं ददामीति, स च श्रावितोऽपि तन्नापूर्वमिति प्रतिपद्यते, तत् एकेन सिद्धपुत्रेणोक्तं—'तुज्झ पिया मज्झ पिउणो धारेइ अणूणय सयसहस्स। जइ सुयपुव्वं दिज्जउ अह न सुय खोरयं देहि ॥१॥, छाया—तव पिता मम पितुर्धारयत्यनून शतसहस्रम्। यदि श्रुतपूर्वं ददातु अथ न श्रुतं खोरकं देहि ॥१॥ इति प्रतिनिभता चास्य सर्वस्मि-न्नप्युक्ते श्रुतपूर्वमेवेदं ममेत्येवमसत्यं वचो ब्रुवाणस्य परस्य निग्रहाय तव पिता मम पितुर्धारयति लक्षमित्येवावधस्य द्विपाशरज्जुकल्पस्यासत्यस्यैव वचस उपन्यस्तत्वादिति, अस्य चोपपत्तिमात्ररूपस्याप्यथज्ञापकतया ज्ञातत्व-मुक्तमिति, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेष, तथाहि अत्रायं प्रयोगः नास्त्यश्रु-तपूर्वं किञ्चत् श्लोकादि ममेत्येवमभिमानधनं ब्रूमो वयम्—अस्ति तवाश्रुत-पूर्वं वचनं तव पित मम पितुर्धारत्यनून शतसहस्रमिति यथेति, । तथा 'हेउ, त्ति यत्रोपन्यासोपनये पर्यनुयोगस्य हेतुरुत्तरतयाऽभिधीयते स हेतुरिति, यथा केनापि कश्चित् पर्यनयुक्त —अहो किं यवा. क्रीयन्ते त्वया ?, स त्वाह—येन मुधैव न लभ्यन्ते इति तथा कस्मात् ब्रह्मचर्यादिकष्टमनुष्ठीयते ? यस्मादकृततप सां नरकादौ गुरुतरावेदना भवतीति, इदमपि उपपत्तिमात्रमेव ज्ञातत्वेनोक्त-मर्थज्ञापकत्वादिति, अथवाऽयमपि यथारूढ ज्ञातमेव, तथाह्यस्यैव प्रयोगः कस्मात् त्वया प्रव्रज्या क्रियत इति पृष्ट. सन् केनापि साधुराह —यतस्तां वि-ना मोक्षो न भवति एतत्समर्थनायैव साधुस्तमाह—भो यवग्राहिन् । कि-मिति त्वया यवाः क्रीयन्ते ? स त्वाह—येन मुधा न लभ्यन्ते, साधोश्चायम-

भिप्रायो यथा–मुधालाभाभावात् तान् क्रीणासि त्वमेवमहं तां विना तदभा-वार्त्तां करोमीति, इह च मुधा यवालाभस्य क्रयणे हेतोः सतो दृष्टान्ततयोपन्यस्तत्वाद्धेतूपन्यासोपनयज्ञाततेति, इह च किञ्चिद्विशेषेणैवंविधा ज्ञातभेदाः सम्भवन्त्यन्येऽपि किन्तु ते न विवक्षिता. अन्तर्भावो वा कथञ्चित् गुरुभिर्विवक्षितो न च तं वयं सम्यग् जानीम इति। अथ ज्ञातानन्तरं ज्ञातवद्धेतोः साध्यसिद्ध्यङ्गत्वात् तद्भेदान् हेऊ इत्यादिना सूत्रत्रयेणाह– व्यक्तं चैतत्, नवरं हिनोति गमयति ज्ञेयमिति हेतुः –अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणः, उक्तञ्च–"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, हेतोर्लक्षणमीरितम्। तदप्रसिद्धिसन्देहविपर्यासैस्तदाभता ॥१॥" इति, प्रागुक्तश्च हेतु पर्यनुयुक्तस्योत्तर-रूपमुपपत्तिमात्रमयं तु साध्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवान् तथाविधदृष्टान्तस्मृत-तद्भाव इति, स चैकलक्षणोऽपि किञ्चिद्विशेषाच्चतुर्धा, तत्र 'जावए' त्ति यापयति-वादिनः कालयापनां करोति, यथा काचिदसती एकैकरूपकेण एकैकमुष्टिलिण्डं दातव्यमिति दत्ताशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयनीप्रेषणोपायेन विटासेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः, उक्तञ्च–'उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइं ॥, इति, इह वृद्धैर्व्याख्यातम्–प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति, ततोऽसौ नावगच्छति प्रकृतमिति, स चेदृशः संभाव्यते-सचेतना वायव. अपरप्रेरणे सति तिर्यग्गनियतत्वाभ्यां गतिमत्त्वात् गोशरीरवदिति, अय हेतुर्विशेषणबहुलतय परस्य दुरधिगमत्वाद् वादिनः कालयापनां करोति, स्वरूपमस्यानवबुद्ध्यमानो हि परो न झगित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्तितु शक्नोति, अतो भवत्यस्माद् वादिनः कालयापनेति, अथवायोऽप्रतीतव्याप्तिकव्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न, झगित्येवसाध्यप्रतीतिं करोति

अपि तु कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वाद् यापकः, यथा क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुः, नहि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्वं प्रत्येति पर इत्यतो बौद्धः सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमते, तथाहि—सत्त्वं नामार्थक्रियकारित्वमेव, अन्यथा वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसंङ्ग, अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वान्न क्रमेण नापि यौगपद्येन क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसंगादित्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिकान्निवर्त्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येव क्षेपेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वाद् यापक. सत्त्वलक्षणो हेतुरिति। तथा स्थापयति पक्षमक्षेपेण प्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् समर्थयति; यथा परिव्राजकधूर्त्ते लोकमध्यभागे दत्तं बहुफलं भवति तच्चाहमेव जानामीति मायया प्रतिग्राममन्यान्यं लोकमध्यं प्ररूपयति सति तन्निग्रहाय कश्चित् श्रावको लोकमध्यस्यैकत्वात् कथं बहुषु ग्रामादिषु तत्सम्भव इत्येवंविधोपपत्या त्वद्दर्शितो भो ! लोकमध्यभागो न भवतीति पक्षं स्थापितवान् इति स्थापको हेतुः, उक्तञ्च—लोगस्स मज्झ जाणण थावगहेऊ उदाहरणं' इति, स चायं—अग्निरत्र धूमात् तथा नित्यानित्यं वस्तु द्रव्य पर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वादिति, अनयोश्च प्रतीतव्याप्तिकतया अकालक्षेपेण साध्यस्थापनात् स्थापकत्वमिति। तथा व्यंसयति—परं व्यामोहयति शकटतित्तिरीग्राहकधूर्त्तवद् यः स व्यंसक इति, तथाहि—कश्चिदन्तराललब्धमृततित्तरीयुक्तेन शकटेन नगरं प्रविष्टः उक्तो धूर्त्तेन यथा—शकटतित्तिरी कथं लभ्यते ?, स च किलायं शकटस्य सत्कां तित्तिरीं याचत इत्यभिप्रायादवोचत् तर्प्पणालोडिकयेति, सक्त्वालोडनेन जलाद्यालोडितसक्तुभिरित्यर्थः, ततो धूर्त्तः साक्षिण आहत्य सतित्तिरीकं शकटं जग्राह, उक्तवांश्च मदीयमेतद्' अनेनैव शकटतित्तरीति दत्तत्वादिति, मया त शकटसहिता तित्तिरी शकट

तिरश्चीति गृहीतत्वादिति, ततो विषण्णः शाकटिक इति, अत्रोक्तम्—' सा सगडतित्तिरी वंसगमि हेउंमि होइ णायव्वा ॥ " इति, स चैवं—अस्ति जीवोऽस्ति घट इत्यभ्युपगमे जीवघटयोरस्तित्वमविशेषेण वर्त्तते ततस्तयोरेकत्वं प्राप्तमभिन्नशब्दविषयत्वादिति व्यंसको हेतुः घटशब्द विषयघटस्वरूप वत्, अथास्तित्वं जीवादौ न वर्तते ततो जीवाद्यभावः स्यादस्तित्वाभावादिति व्यंसकः प्रतिवादिनो व्यामोहकत्वादिति, तथा 'लूसए' त्ति लूषयति—मुष्णाति व्यंसकापादितमनिष्टमिति लूषको हेतुः, स एव शाकटिको, यथा—धूर्त्तान्तरशिक्षितेन हि शाकटिकेन तेन याचितोऽसौ धूर्त्त तर्हि देहिमेतर्पणालोडिकामिति, तत धूर्त्तेनोक्ता स्वभार्य्या—देह्यस्मै सत्कूनालोड्येति, ताञ्च तथा कुर्वन्ती तद्भार्या गृहीत्वाऽसौ प्रस्थितोऽवदिच्च धूर्त्तमभि—मदीयेयं तार्पणमिति सत्कूनालोडयतीति तर्पणालोडिकेति भवतैव दत्तत्वादिति, स चायं यदि जीवघटयोरस्तित्ववृत्त्या एकत्वं सम्भावयसि तदा सर्वभावानामेकत्वं स्यात् सर्वेष्वाप्यस्तित्ववृत्तेरविशेषात्, न चैवमिति, इहास्तित्व वृत्तेरविशेषादित्ययं लूषको जीवघटयोरेकत्वापादनलक्षणस्याभावापत्तिलक्षणस्य वाऽनिष्टस्य परापादितस्यानेन लूपितत्वादिति, अथवेति हेतोः प्रकारान्तरताद्योतको विकल्पार्थो हिनोति—गमयति प्रमेयमर्थं स वा हीयते—अधिगम्यते अनेनेति हेतुः—प्रमेयस्य प्रमितौ कारणं प्रमाणमित्यर्थः, स चतुर्विधः स्वरूपादिभेदात्, तत्र 'पच्चक्खे' त्ति अश्नाति अश्नुते—व्याप्नोत्यर्थानिति अक्षः—आत्मा तं प्रति यद्वर्तते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं निश्चयतोऽवधिमनःपर्यायकेवलानि, अक्षाणि वेन्द्रियाणि प्रति यत्तत्प्रत्यक्षं व्यवहारतस्तच्चक्षुरादिप्रभमिति, लक्षणमिदमस्य—'अपरोक्षतयाऽर्थस्य, ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् । 'त्यक्ष[illegible] . .त् ज्ञेयं, परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ १ ॥" ग्रहणापेक्षयेति भावः

अन्विति—लिङ्गदर्शनसबन्धानुस्मरणयो. पश्चान्मान—ज्ञानमनुमानम्, एतल्लक्षणमिदम्—'साध्याविनाभुवो लिंगात्, साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवद् ॥ १ ॥" इति, एतच्च साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाप्युपचाराद्धेतुरिति, तथा उपमानमुपमा सैवोपम्यं अनेन गवयेन सदृशोऽसौ गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूप, उक्तञ्च—' गा दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्यं गवय वीक्षते यदा। भूयोऽवयवसामान्यभाज वत्तु लकण्ठकम् ॥१॥ तस्यामेव त्ववस्थाया यद्विज्ञान प्रवर्तते। पशुनैतेन तुल्योऽसौ गोपिण्ड इति सोपमा ॥ २ ॥" इति, अथवा श्रुतातिदेशवाक्यस्य समानार्थोपलम्भनेसंज्ञासज्ञिसंवन्धज्ञानमुपमानमुच्यत इति, आगम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः आप्तवचनसपाद्यो विप्रकृष्टार्थप्रत्यय', उक्तञ्च—दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः। तत्त्वग्राहितयोत्पन्न मानं शब्द प्रकीर्त्तितम् ॥१॥ आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्वोपदेशकृत सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम् ॥१॥ इति, इहान्यथानुपपन्नत्वलक्षणहेतुजन्यत्वादनुमानमेव कार्ये कारणोपचाराद्धेतु., स च चतुर्विधः चतुर्भंगीरूपत्वात्, तत्र अस्ति–विद्यते तदिति लिङ्गभूतं धूमादिवस्तु इति कृत्वा अस्ति स. अग्न्यादिकः साध्योऽर्थ इत्येव हेतुरिति अनुमानम्। तथा अस्ति तदग्न्यादिकं वस्त्वतो नास्त्यसौ तद्विरुद्धः शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तदग्न्यादिकमतः शीतकालेऽस्ति स शीतादिरर्थ इत्येवमपि हेतुरनुमानमिति, तथा नास्ति तद्वृक्षत्वादिकमिति नास्ति शिंशपात्वादिकोऽर्थ इत्यपि हेतुरनुमानमिति, इह च शब्दे कृतकत्वस्यास्तित्वादस्त्यनित्यत्वं, घटवत्तथा धूमस्यास्तित्वादिहास्त्यग्निर्महानस इवेत्यादिकं स्वभावानुमानं कार्य्यानुमानंच प्रथमभंगकेन

सूचितं १, तथा अग्नेरस्तित्वाद्धूमास्तित्वाद् वा नास्ति शीतस्पर्श इत्यादि विरुद्धोपलम्भानुमानं विरुद्धकार्योपलम्भानुमानञ्च, तथाऽग्नेर्धूमस्य वाऽस्तित्वान्नास्ति शीतस्पर्शजनितदन्तवीणारोमहर्षादिः पुरुषविकारो महानसवदित्यादि कारणविरुद्धोपलम्भानुमानम्। कारणविरुद्धकार्य्योपलम्भानुमानं च द्वितीयभंगकेनाभिहितं २ तथा छत्रादेरग्नेर्वा नास्तित्वादस्ति क्वचित् कालादिविशेषे आतपः शीतस्पर्शो वा पूर्वोपलब्धप्रदेश इवेत्यादिकं विरुद्धकारणानुपलम्भानुमानं विरुद्धानुपलम्भानुमानञ्च तृतीयभंगकेनोपात्तं ३ तथा दर्शनसामग्र्यां सत्यां घटोपलम्भस्य नास्तित्वान्नास्तीह घटो विवक्षितप्रदेशवदित्यादि स्वभावानुपलब्ध्यनुमानं तथा धूमस्य नास्तित्वान्नास्त्यविकलो धूमकारणकलापः प्रदेशान्तरवदित्यादि कार्य्यानुपलब्ध्यनुमानम्, तथा वृक्षनास्तित्वात् शिंशपा नास्तीत्यादि व्यापकानुपलम्भानुमानं तथाऽग्नेर्नास्तित्वाद्धूमो नास्तीत्यादिकारणानुपलम्भानुमानं च चतुर्थभंगकेनावरुद्धमिति न च वाच्यं न जैनप्रक्रियेयं, सर्वत्र जैनाभिमतान्यथानुपपन्नत्वरूपस्य हेतुलक्षणस्य विद्यमानत्वादिति ॥४॥ स्थनांगसूत्र स्थान ४ उद्देश ३

मूल :—कतिविधे णं भंते ! इंदियअवाए प० ?, गो० ! पंचविधे इंदियअवाए पं,० तं०—सोतिंदियअवाए जाव फासिंदियअवाए, एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं, नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि। कतिविहा णं भंते ! ईहा पं० ?, गो० ! पंचविहा ईहा पं० तं०—सोतिंदियईहा जाव फासिंदियईहा, एवं जाव वेमाणियाणं, णवरं जस्स जइ इंदिया ८। कतिविधे णं भंते !

उग्गहे पं० ?, गो० !, दुविहे उग्गहे पं०, तं०—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य। वंजणोग्गहे णं भंते! कतिविधे पं० ? गो० ! चउव्विहे पं०, तं०—सोतिंदियवंजणोग्गहे घाणिंदियवंजणोग्गहे जिब्भिंदियवंजणोग्गहे फासिंदियवं०। अत्थोग्गहे णं भंते। कतिविधे पं० ?, गो० ! छव्विहे पं,० तं०—सोतिंदियअत्थोवग्गहे चक्खिंदियअ० जिब्भिंदियअ० फासिंदियअ० नोइंदिय अत्थो०। नेरइयाणं भंते! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते ? गो० ! दुविहे पं,० तं०—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य, एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं भंते! कतिविधे उग्गहे, पं० ?, गो० दुविधे उग्गहे पं०—अत्थोग्गहे य वंजणोवग्गहे य। पुढविकाइयाणं भते! वंजणोग्गहे कतिविधे पं० ?, गो० ! एगे फासिंदियवंजणोग्गहे पं०। पुढविकाइयाणं भंते! कतिविधे अत्थोग्गहे पण्णत्ते ?, गो० एगे फासिंदिय अत्थोग्गहे पं० एवं जाव वणस्सइकाइयाणं, एवं बेइंदियाणवि, नवरं बेइंदियाण वंजणोग्गहे दुविहे पं०, अत्थोग्गहे दुविहे प० एवं तेइंदिय चउरिंदियाणवि, णवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा, चउरिंदियाणं वंजणोग्गहे तिविधे प०, अत्थोग्गहे चउव्विधे पं०, सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ६, १० (सू० २००)

टीकाः— "कतिविहेणं भंते ! इंदियअवाए पं०" इत्यादि तत्रावग्रहज्ञानेनावगृहीतस्य ईहाज्ञानेन ईहितस्यार्थस्य निर्णयरूपो योऽध्यवसायः सोऽपायः, शांख एवायं शाङ्ग एव वायं इत्यादिरूपोऽवधारणात्मकोनिर्णयोऽवाय इतिभाव । ईहा इति, 'ईह चेष्टायां' ईहनमीहा, सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः, किमुक्तं भवति ?—अवग्रहादुत्तरकालमवायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखः प्रायोऽत्र मधुरत्वादय शंखादिशब्दधर्मा दृश्यन्ते न कर्कशनिष्ठुरतादयः शाङ्गादिशब्दधर्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा, आह च भाष्यकृत -"भूयाभूयविसेसादाणच्चायाभिमुहमीहा"। [भूताभूतविशेषादानत्यागाभिमुख्यमीहा] ' दुविहे ओग्गहे पं०, तं०—वंजणोग्गहे य अत्थोग्गहे य' इति, अवग्रहो द्विविधः—अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च, तत्र अवग्रहणमवग्रहः अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रह, अनिर्देश्यसामान्यरूपाद्यर्थग्रहणमिति भावः, आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत् —" सामन्नस्स रूवाइ विसेसणरहियस्स अनिद्देस्सस्ससमवग्गहणं अवग्गह' इति, तथा व्यज्यतेऽनेनार्थ प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं,' तच्च उपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणत द्रव्याणा च यः परस्परं सम्बन्ध , सम्बन्धेहि सति सोऽर्थ श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यञ्जितुं शक्यते नान्यथा तत सम्बन्धो व्यञ्जन, आह च भाष्यकृत्—" वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव दीवेण वंजणं तं च । उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयदव्वसबंधो ॥ १ ॥ छाया—व्यज्यते येनार्थो घट इव दीपेन व्यंजनं, तच्चोपकरणेन्द्रिय शब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्ध ॥ १ ॥ व्यञ्जनेन—सम्बन्धेनावग्रहणं —सम्बध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थस्य।व्यक्तरूप. परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रह., अथवा व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनानि 'कृद्बहुल' मिति वचनात कर्मण्यनट, व्यञ्जनानां —शब्दादिरूपतया परिनाना द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामर्थावग्रह अव्यक्तरूप. परिच्छेदो

व्यञ्जनावग्रह', आह—प्रथम अर्थावग्रहो भवति ततोऽर्थावग्रहस्तत कस्मादिह प्रथममर्थावग्रह उपन्यस्त ? उच्यते, स्पष्टतयोपलभ्यमानत्वात्, तथाहि—अर्थावग्रहः स्पष्टरूपतया सर्वैरपि जंतुभिः संवेद्यते शीघ्रतरगमनादौ सकृत्सत्वरमुपलभ्यते, किञ्चिद् दृष्टं न परिभावितं सम्यगिति व्यवहारदर्शनात् अपिच अर्थावग्रहः सर्वेन्द्रियमनोभावी व्यञ्जनावग्रहस्तु नेति प्रथममर्थावग्रह उक्त । सम्प्रति व्यञ्जनावग्रहादूर्ध्व अर्थावग्रह इति क्रममाश्रित्य प्रथमं व्यञ्जनावग्रहस्वरूपं प्रतिपिपादयिषु प्रश्नं कारयति शिष्य—' भंजणोग्गहे ण भंते ! कइविहे पं०' इत्यादि, इह व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्ध इत्युक्तं प्राक्, ततश्चतुर्णामेव श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहो न नयनमनसोः, तयोरप्राप्यकारित्वात्, सा चाप्राप्यकारिता नन्द्यध्ययनटीकायां प्रदर्शितेति नेह प्रदर्श्यते, अर्थावग्रहः षड्विध', तद्यथा—'सोइंदियअत्थुग्गहे' इत्यादि, श्रोत्रेन्द्रियेणार्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालमेकसामयिकमनिर्देश्यं सामान्यमात्रार्थग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह एवं घ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहेष्वपि वाच्यं, चक्षुर्मनसोस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति, ततस्तयो प्रथममेव स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाकल्पनातीतमनिर्देश्यसामान्यमात्रस्वरूपार्थावग्रहणमर्थावग्रहोऽवसेय', ' नोइंदियअत्थावग्गहो' इति नोइन्द्रिय—मनः तच्च द्विधा—द्रव्यरूपं भावरूपञ्च, तत्र मन' पर्याप्तिनामकर्मोदयतो यत् मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमनं—तद् द्रव्यरूपं मनः, तथा चाह नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत् '—मणपज्जत्तिनामकम्मोदयओ जोग्गे मणोदव्वे घित्तु मणत्तेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भन्नइ' इति, तथा द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मन परिणाम स भावमन तथा चाह नन्द्यध्ययनचूर्णिकृदेव—"जीवो पुण मणपरिणामकि-

रियावंतो भावमणो, किं भणियं होइ ?—मणदव्वालंबणो जीवस्समणवावारो भावमणो भण्णइ" इति, तत्रेह भावमनसा प्रयोजनं, तद्ग्रहणे ह्यवश्यं द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति, द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसंभवात्, भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति यथा भवस्थकेवलिनां, तत उक्तं भावमनसा प्रयोजनं, तत्र नोइन्द्रियेण—भावमनसाऽर्थावग्रहो—द्रव्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षघटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाभिमुखः प्रथममेकसामयिको रूपाद्यर्थाकारादिविशेषचिन्ताविकलोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रचिन्तात्मको बोधो नोइन्द्रियार्थावग्रहः, अवग्रहग्रहणं चोपलक्षणं तेन नोइन्द्रियार्थावग्रहस्य साक्षादितरयोस्तु (ईहापाययोः) उपलक्षणात उपादान, विचित्रत्वात् सूत्रगतेरित्यदोषः ।

प्रज्ञापना सूत्र पद १५ उद्देश २ सू० २००

मूल :—कइविहाणं भंते ! आया पण्णत्ता ?, गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तंजहा—दवियाया कसायाया योगाया उवओगाया णाणाया दंसणाया चरित्ताया वीरियाया ॥ जस्स णं भंते ! दवियाया तस्स कसायाया जस्स कसायाया तस्स दवियाया ?, गोयमा ! जस्स दवियाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण कसायाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि। जस्स णं भंते ! दविया तस्स जोगायाया ?, एवं जहा दवियाया कसायाया भणिया तहा दवियाया जोगाया भाणियव्वा । जस्स

ण भंते ! दवियाया तस्स उवओगाया एवं सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा, गोयमा ! जस्स दवियाया तस्स उवओगाया नियमं अत्थि, जस्सवि उवओगाया तस्सवि दवियाया नियमं अत्थि, जस्स दवियाया तस्स णाणाया भयणाए जस्स पुण णाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि, जस्स दवियाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि जस्सवि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि, जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए जंस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया नियम अत्थि, एवं वीरियायाएवि समं। जस्स णं भंते! कसायाया तस्स जोगाया पुच्छा, गोयमा ! जस्स कसायाया तस्स जोगाया नियमं अत्थि, जस्स पुण जोगाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नत्थि, एवं उवओगायाएवि समं कसायाया नेयव्वा, कसायाया य णाणाया य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ, जहा कसाया य उवओगाया य तहा कसायाया य दंसणाया य कसाया य चरित्ता य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ, जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया य वीरियाया य भाणियव्वाओ, एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाएवि उवरिमाहिं समं भाणियव्वाओ। जहा दवियायाए वत्तव्वया भणिया तहा उवयोगायाएवि उवरिल्लाहिं समं भाणियव्वा। जस्य नाणाया

तस्स दंसणाया नियमं अत्थि जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाए, जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि, णाणाया वीरियाया दोवि परोप्परं भयणाए । जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दोवि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया नियमं अत्थि । जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाया नियमं अत्थि जस्स पुण वीरियाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि ॥ एयासि—णं भंते ! दवियायाणं कसायायाणं जाव वीरियायाणं य कयरे २ जाव विसेसा० गोयमा ! सव्वत्थोवाओ चरित्तायाओ नाणायाओ अणंतगुणाओ कसायाओ अणंत० जोगायाओ वि० विरियायाओवि उवयोगदवियदंसणायाओ तिन्निवि तुल्लाओ वि० ॥ (सू० ४६७)

आया भंते ! नाणे अन्नाणे ?, गोयमा ! आया सिय नाणे सिय अन्नाणे णाणे पुण नियमं आया ॥ आया भंते ! नेरइयाणं नाणे अन्ने नेरईयाणं नाणे ? गोयमा ! आया नेरइयाणं सिय नाणे सिय अन्नाणे नाणे पुण से नियमं आया एवं जाव थणियकुमाराणं, आया भंते ! पुढवि० अन्नाणे अन्ने पुढविकाइयाणं अन्नाणे ?, गोयमा ! आया पुढविकाइयाणं नियमं

अन्नाणे अन्नाणेवि नियमं आया, एवं जाव वणस्सइका०, बेइंदिय तेइंदिय जाव वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं। आया भंते दंसणे अन्ने दंसणे ? गोयमा ! आया नियमं दंसणे दंसणेवि नियमं आया। आया भंते ! नेर० दंसणे अन्ने नेरइयाणं दंसणे ?, गोयमा ! आया नेरइयाणं नियमा दंसणे दंसणेवि से नियमं आया एवं जाव वेमा० निरंतरं दंडओ ॥ (सू० ४६८)

टीका :—'कइविहा णं' मिति, 'आय' त्ति अतति—सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा, अथवा अतधतोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थ-त्वादतति—सन्ततमवगच्छति उपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीलिंगनिर्देश. तस्य चोपयोगलक्षणत्वात् सामान्येनैकविधत्वेऽप्युपाधिभे-दादष्टधात्वं ,तत्र 'दवियाय' त्ति द्रव्य —त्रिकालानुगाम्युपसर्जनीकृतकषायाद पर्यायं तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा सर्वेषां जोवानां, 'कसायाय' त्ति क्रोधादिकषाय विशिष्ट आत्माकषायात्मा अक्षीणानुपशान्तकषायाणाम्' 'जोगाय' त्ति योगा-मन प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आस्मा योगात्मा योगवतामेव, 'उवओगाया' त्ति उपयोग.– साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा सिद्धसंसा-रिस्वरूप. सर्वजीवानां, अथवा विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा, 'ना-णाय' त्ति ज्ञानविशेषित उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टे' एवं दर्शनात्मादयोऽपि नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवानां, चारित्रात्मा विरतानां वीर्य—उत्थानादि तदात्मा सर्वसंसारिणामिति, उक्तं च—जीवनां द्रव्यात्मा-ज्ञेय. सकषायिणां कषायात्मा। योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवा-

तस्स दंसणाया नियमं अत्थि जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाए, जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणया नियमं अत्थि, णाणाया वीरियाया दोवि परोप्परं भयणाए। जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दोवि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया नियमं अत्थि। जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाया नियमं अत्थि जस्स पुण वीरियाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय नत्थि ॥ एयासि—णं भंते ! दवियायाणं कसायायाणं जाव वीरियायाणं य कयरे २ जाव विसेसा० गोयमा ? सव्वत्थोवाओ चरित्तायाओ नाणायाओ अणंतगुणाओ कसायाओ अणंत० जोगायाओ वि० विरियायाओवि उवयोगदवियदंसणायाओ तिन्निवि तुल्लाओ वि० ॥ (सू० ४६७)

आया भंते ! नाणे अन्नाणे ?, गोयमा ! आया सिय नाणे सिय अन्नाणे णाणे पुण नियनं आया ॥ आया भंते ! नेरइयाणं नाणे अन्ने नेरईयाणं नाणे ? गोयमा ! आया नेरइयाणं सिय नाणे सिय अन्नाणे नाणे पुण से नियमं आया एवं जाव थणियकुमाराणं, आया भंते ! पुढवि० अन्नाणे अन्ने पुढविकाइयाणं अन्नाणे ?, गोयमा ! आया पुढविकाइयाणं नियमं

अन्नाणे अन्नाणेवि नियमं आया, एवं जाव वणस्सइका०, बेइंदिय तेइंदिय जाव वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं । आया भंते दंसणे अन्ने दंसणे ? गोयमा ! आया नियमं दंसणे दंसणेवि नियमं आया । आया भंते ! नेर० दंसणे अन्ने नेरइयाणं दंसणे ?, गोयमा ! आया नेरइयाणं नियमा दंसणे दंसणेवि से नियमं आया एवं जाव वेमा० निरंतरं दंडओ ॥ (सू० ४६८)

टीका :—'कइविहा ण' मिति, 'आय' त्ति अतति—सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा, अथवा अतधतोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादतति—सन्ततमवगच्छति उपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीलिंगनिर्देश. तस्य चोपयोगलक्षणत्वात् सामान्येनैकविधत्वेऽप्युपाधिभेदादष्टधात्वं ,तत्र 'दवियाय' त्ति द्रव्य —त्रिकालानुगाम्युपसर्जनीकृतकषायादिपर्यायं तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा सर्वेषां जोवानां, 'कसायाय' त्ति क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्माकषायात्मा अक्षीणानुपशान्तकषायाणाम्' 'जोगाय' त्ति योगामन' प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आत्मा योगात्मा योगवतामेव, 'उवओगाया' त्ति उपयोग.– साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा सिद्धसंसारिस्वरूप. सर्वजीवानां, अथवा विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा, 'नाणाय' त्ति ज्ञानविशेषित उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टे. एवं दर्शनात्मादयोऽपि नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवाना, चारित्रात्मा विरतानां वीर्य—उत्थानादि तदात्मा सर्वसंसारिणामिति, उक्त च—जीवनां द्रव्यात्मा- ह्येय' सकषायिणां कषायात्मा । योग: सयोगिनां पुनरुपयोग: सर्वजीवा-

नाम् ॥ १ ॥ ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् । चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२” इति ॥ एवमष्टधाऽऽत्मनं प्ररूप्यथ यस्यात्मभेदस्य यदन्यदात्मभेदान्-रं युज्यते च न युज्यते च तस्य तद्दर्शयितुमाह—‘जस्स ण’ मित्यादि, इहाष्टौ पदानि स्थाप्यन्ते, तत्र प्रथमपदं शेषैः सप्तभिः सह चिन्त्यन्ते तत्र यस्य जोवस्य ‘द्रव्यात्मा’ द्रव्यात्मत्वं जोवत्वमित्यर्थः तस्यकषायातमा स्यादस्ति ’ कदाचिदस्ति सकषायावस्थायां ‘स्यान्नास्ति’ कदाचिन्नास्ति क्षीणोपशान्तकषायावस्थायां, यस्य पुनः कषायात्माऽस्ति तस्य द्रव्यात्मा द्रव्यात्मत्वं —जीवत्वं नियमादस्ति, जीवत्वं विना कषायाणामभावादिति । तथा यस्य द्रव्यात्मा तस्य योगात्माऽस्ति, योगवतामिव, नास्ति अयोगिसिद्धानामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, जीवत्वं विना योगानामभावात्, एतदेव पूर्वसूत्रोपमानेन दर्शयन्नाह—‘एवं जहा दवियाये’ त्यादि । तथा यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य नियमादुपयोगात्मा, यस्याप्युपयोगात्मा तस्य नियमाद् द्रव्यात्मा, एतयोः परस्परेणाविनाभूतत्वात् यथा सिद्धस्य, तदन्यस्य च द्रव्यात्मास्त्युपयोगात्मा चोपयोगलक्षत्वाज्जीवानां , एतदेवाह—‘जस्स दवियाये’ त्यादि । तथा ‘जस्स दवियाया तस्स नाणाया भयणाए जस्स पुण नाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि’ त्ति यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृष्टीनो स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृष्टीनामित्येवं भजना, यस्य तु ज्ञानात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, यथा सिद्धस्येति ‘जस्स दवियाया तस्स दसणाया नियमं अत्थि’ त्ति यथा सिद्धस्य केवलदर्शनं ‘जस्स वि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि’ त्ति यथा चक्षुर्दर्शनादि

दर्शनवतां जीवत्वमिति, तथा 'जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए' त्ति यत सिद्धस्याविरतस्य वा द्रव्यात्मत्वे सत्यपि चारित्रात्मा नास्ति विरताना चास्तीति भजनेति, 'जस्स पुण चरित्ताया तस्य दवियाया नियमं' अत्थि, त्ति चारित्रिणां जीवत्वाव्यभिचारित्वादिति, 'एवं वीरयातेवि सम' ति यथा द्रव्यात्मनश्चारित्रात्मना सह भजनोक्ता नियमश्चैवं वीर्यात्मनाऽपि सहेति, तथाहि— यस्य द्रव्यात्मा तस्य वीर्यात्मा नास्ति, यथा सकरणवीर्यापेक्षया सिद्धस्य तदन्यस्य त्वस्तीति भजना, वीर्यात्मनस्तु द्रव्यात्माऽस्त्येव यथा संसारिणामिति ॥७॥ अथ कषायात्मना सहान्यानि षट्पदानि चिन्त्यन्ते—जस्सण'-मित्यादि, यस्य कषायात्मा तस्य योगात्माऽस्त्येव, नहि सकषायोऽयोगी भवति, यस्य तु योगात्मा तस्य कषायात्मा स्याद्वा न वा, सयोगानां सकषायाणामकषायाणां च भावादिति, 'एव उवओगाया, एवी' त्यादि, अयमर्थ— यस्य कषायात्मा तस्योपयोगात्माऽवश्य भवति, उपयोगरहितस्य कषायाणामभावात्, यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, उपयोगात्मतायां सत्यामपि कषायिणामेव कषायात्मा भवति निष्कषायाणा तु नासाविति भजनेति, तथा 'कसायाया य नाणाया य परोप्पर दोवि भइयव्वोओ' त्ति कथ यस्य कषायात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, यत कषायिण सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानात्माऽस्ति मिथ्यादृष्टेस्तु तस्य नास्त्यसाविति भजना, तथा यस्य ज्ञानात्मास्ति तस्य कषायात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, ज्ञानिना कषायभावात् तदभावाच्चेति भजनेति, 'जहा कसायाया उवओगाया य तहा कसायाया य दसणाया य' त्ति अतिदेश, तस्माच्चेद लब्ध—'जस्स कसायाया तस्स दंसणाया नियम अत्थि' दर्शनरहितस्य घटादे कषायात्मनोऽभावात् 'जस्स पुण दसणाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नत्थि' दर्श।

कपायसद्भावात्तदभावाच्चेति, दृष्टान्तार्थस्तु प्राक् प्रसिद्ध एवेति, 'कसायाया य चरित्ताया य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ' त्ति भजना चैवं—यस्य कपायात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, कथं ?, कषायिणां चारित्रस्य सद्भावात् प्रमत्तयतीनामिव तदभावाच्चासंयतानामिवेति, तथा यस्य चारित्रात्मा तस्य कषायात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, कथं ?, सामायिकादि चारित्रिणां कषायाणां भावाद् यथाख्यातचारित्रिणां च तदभावादिति, 'जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया वीरियाया य भाणियव्वाओ' त्ति दृष्टांतः प्राक् प्रसिद्धः, दार्ष्टान्तिकस्त्वेवं यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा नियमादस्ति, नहि कषायवान् वीर्य्य विकलोऽस्ति, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य कपायात्मा भजनया, यतो वीर्य्यवान् स कषायोऽपि स्याद् यथा संयत अकपायोऽपि स्याद् यथा केवलीति ॥ ६ ॥ अथ योगात्माऽग्रेतनपदैः पञ्चभिःसह चिन्तनीयस्तत्र च लाघवार्थमतिदिशन्नाह—' एवं जहा कसायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाएवि उवरिमाहिं समं भाणियव्व' त्ति, साचैवं—यस्य योगात्मा तस्योपयोगात्मा नियमाद् यथा सयोगानां, यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति यथा सयोगानां स्यान्नास्ति यथाऽयोगिनां सिद्धानाञ्चेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टीनामिव स्यान्नास्ति मिथ्यदृष्टीनामिव यस्य ज्ञानात्मा तस्यापि योगात्मा स्यादस्ति सयोगिनामिव स्यान्नास्त्यो—गिनामिवेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य दर्शनाऽऽत्माऽस्त्येव योगिनामिव यस्य च दर्शनात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति योगवतामिव स्यान्नास्त्ययोगिनामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति विरतानामिव स्यान्नास्त्यविरतानामिव, यस्यापि चारित्रात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति सयोगचा-

ग्त्रिवतामिव स्यान्नास्त्ययोगिनामिवेति, वाचनान्तरे पुनरिदमेवं दृश्यते— जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं' त्ति तत्र च चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादि व्यपाररूपस्य विवक्षितत्वात्तस्य च योगाविनाभावित्वात् यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमादित्युच्यत इति, तथा यस्य योगात्मा तस्य वीर्यात्माऽस्त्येव योगसद्भावे वीर्यस्यावश्यम्भवात्, यस्य तु वीर्यात्मा तस्य योगात्मा भजनया यतो वीर्य्यविशेषवान् सयोग्यपि स्याद् यथा सयोगकेवल्यादि .— अयोग्यपि स्याद् यथाऽयोगिकेवलीति ॥५॥ अथोपयोगात्मना सहान्यानि चत्वारि चिन्त्यन्ते तत्रातिदेशमाह—'जहदवियाये' त्यादि एवञ्च भावना कार्या—यस्योपयोगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग् दृशा स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृषां, यस्य च ज्ञानात्मा तस्यावश्यमुपयोगात्मा सिद्धानामिवेति, ॥१॥ तथा यस्योपयोगात्मा तस्य दर्शनात्मऽस्त्येव यस्यापि दर्शनतमा तस्यापयोगात्माऽस्त्येव यथा सिद्धादीनामिव ति २ तथा यस्योपयोगात्मातस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति यथा सयतानामसंयतानां च यस्य तु चारित्रात्मा तस्योपयोगात्माऽस्त्येवति यथा संयतानां ३ तथा यस्योपयोगात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति ससारिणामिव स्यान्नास्ति सिद्धानामिव यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्योपयोगात्माऽस्त्येव ससारिणामिवेति ४। अथ ज्ञानात्मना सहान्यानि त्रीणि चिन्त्यन्ते 'जस्स नाणे' त्यादि, तत्र यस्य ज्ञानात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव सम्यगदृशामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यगदृशां स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशामत एवोक्तं 'भयणाए' त्ति १ तथा 'जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि' त्ति, संयतानामिव सिय नत्थि, त्ति, असंयतानामिव 'जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि, त्ति ज्ञानं विना चारित्रस्याभवादिति २ तथा 'णाणाये'

त्यादि अस्यार्थः—यस्य ज्ञानात्मा तस्यवीर्यात्मा स्यादस्ति केवल्यादीनामिव स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्यापि वीर्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग् दृष्टेरिव स्यान्नास्तिमिथ्यादृश इवेति ३ ॥ अथ दर्शनात्मना सह द्वे चिन्त्येते 'जस्स दंसणाये' त्यादि, भावना चास्य—यस्य दर्शनात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति संयतानामिव स्यान्नस्त्यसंयतानामिव, यस्य च चारित्रात्मा तस्य दर्शनात्मानस्त्येव साधूनामिवेति १ तथा यस्य दर्शनात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य च वीर्यात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव संसारिणामिवेति २॥ अथान्तिम पदयोर्योजना 'जस्स चरित्तो त्यादि, यस्य चारित्रात्मा तस्य वीर्यात्माऽस्त्येव वीर्यं विना चारित्रस्याभावात्, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति साधूनामिव स्यान्नास्त्यसयतानामिवेति अधुनैषामेवात्मनामल्पबहुत्वमुच्यते 'सव्वत्थोवाओ चतित्तायाओ' त्ति चारित्रिणां सख्यातत्वात् 'णाणायाओ अणत गुणाओ' त्ति सिद्धादोना सम्यग् दृशां चारित्रेभ्योऽनन्तगुणत्वात् 'कसायाओ अणंतगुणाओ' त्ति सिद्धेभ्य कपायोदयवतामनन्तगुण त्वात् जोगायाओ विसेसाहियाओ' त्ति अपगतरूपोयोदयैर्योगवद्भिरधिका इत्यथे 'वीरियाओ विसेसाहियाओ' त्ति अयोगिभिरधिका इत्यर्थः अयोगिनां वीर्यवत्त्वादिति, 'उवओगदवियदंसणायाओ तिण्णिवि तुल्लाओ विसेसाहियाओ' त्ति परस्परापेक्षया तुल्या, सर्वेषा सामान्यजीवरूपत्वान् वीर्यात्मभ्य सकाशादुपयोद्रव्यदर्शनात्मानो विशेषाधिका यतो वीर्यात्मान सिद्धाश्च मोलिता उपयोगाद्यात्मानो भवति, ते च वीयत्मिभ्य. सिद्धराशिनाऽधिका भवन्तीति, भवति चात्र गाथा —कोडी सहस्स पुहुत्तं इेण तो थोवियाओ चरणाया । णाणायाऽणंतगुणा पडुच्च सिद्धे य-

सिद्धाओ ॥१॥ छाया—यतीनांकोटी सहस्रपृथकत्व ततः स्तोकाश्चरणात्मा-
न. । ज्ञानात्मनोऽनन्तगुणाः सिद्धा' सिद्धान् प्रतीत्य ॥१॥'होंति कसायायाओ
ऽणंतगुणा जेण ते सरागाणं। जोगाया भणियाओ अयोगि वज्जाणतो अहिया
॥ २ ॥ छाया—कषायात्मानोऽनन्तगुणा भवन्ति यतस्ते सरागाणाम् ।
ततो योगात्मानोऽधिका अयोगिवर्ज्या यतोभणिता ॥ २ ॥ ' ज सेलेसि
गयाणवि लद्धी विरिय तओ समहियाओ । उवओगदविय दंसण सव्वजि-
या ण ततो अहिया ॥ ३ ॥ इति, छाया—यच्छैलेशीगतानामपि लब्धि-
वीर्य्यं ततस्ते समधिका । उपयोगद्रव्यदर्शनात्मानः सर्वे जीवास्ततोऽधि-
का ॥ ३ ॥ इति। अथात्मान एव स्वरूपनिरुणायाह—'आया भंते '
नाणे इत्यादि, आत्मा ज्ञानं योऽयमात्माऽसौ ज्ञानं न तयोर्भेदः अथात्म-
नोऽन्यज्ज्ञानमिति प्रश्नः, उत्तरं तु—आत्मा स्याज्ज्ञानं सम्यक्त्वे सति
मत्यादि ज्ञान स्वभावत्वात्तस्य, स्यादज्ञानं मिथ्यात्वे सति तस्य मत्यज्ञाना-
दि स्वभावत्वात्, ज्ञानं पुनर्नियमादात्मा आत्मधर्मत्वाज्ज्ञानस्य, न च सर्व-
था धर्मो धर्मिणोभिद्यते, सर्वथा भेदे हि विप्रकृष्ट गुणिनो गुणमात्रोपल-
ब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एवसशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य
भेदाविशेषात्, दृश्यते च यदा कश्चिद्धरिततरुतरुणशाखाविसररंध्रोदरान्तरतः
किमपि शुक्ल' पश्यति तदा किमियंपताका किमियं बालका ? इत्येवं प्रतिनि-
यतगुणिविषयोऽसौ, नापि धर्मिणो धर्म्म सर्वथैवाभिन्न , सर्वथैवाभेदेहि
संशयानुत्पत्तिरेव, गुण ग्रहणात एव गुणिनोऽपि गृहीतत्वादत कथञ्चि-
दभेदपक्षमाश्रित्य ज्ञानं पुनर्नियमादात्मेत्युच्यत, इति इह चात्मा ज्ञानं
व्यभिचरति ज्ञान त्वात्मानं न व्यभिचरति खदिरवनस्पतिवदिति सूत्रगर्भार्थ
इति ॥ अमुमेवार्थं दण्डके निरूपयन्नाह—'आये' त्यादि, नारकाणां ' आ-

त्मा' आत्मस्वरूपं ज्ञानं उतान्यन्नारकाणां ज्ञानं ? तेभ्यो व्यतिरिक्तमित्यर्थः इति प्रश्नः, उत्तरं तु आत्मा नारकाणां स्याज्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाभावात् स्यादज्ञानं मिथ्या दर्शनाभावात् ज्ञानं—पुन. 'से' त्ति तन्नारक सम्बन्धि आत्मा न तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः ॥ 'आया भंते ! पुढविक्काइयाण' मित्यादि, 'आत्मा' आत्मस्वरूपज्ञानमुतान्यत्तेषां ? उत्तरं तु आत्मा तेषामज्ञानरूपो नान्यत्तेभ्य इति भावार्थ एवं दर्शनसूत्राण्यपि, नवरं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टयोर्दर्शनस्याविशिष्टत्वादात्मा दर्शनं दर्शनमप्यात्मैवेति वाच्यं, यत्र हि धर्मे विपर्ययो नास्ति तत्र नियम एवोपनीयते न व्यभिचारो, यथेहैव दर्शने, यत्र तु विपययोऽस्ति तत्र व्यभिचारो नियमश्च यथा ज्ञाने आत्मा ज्ञानरूपोऽज्ञानरूपश्चेति व्यभिचार, ज्ञानं त्वात्मैवेति नियम इति ॥

मूल :—आया भंते ! रयणभापु० अन्ना रयणप्पभा पुढवी ! गोयमा ! रयणप्पभा सिय आया सिय नो आया सिय अवत्तव्वं आयति य नो आयाइ य, से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ रयणप्पभा पुढवी सिय आया सिय नो आया सिय अवत्तव्वं आतातिय नो आतातिय ? गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया परस्स आदिट्ठे नो आया तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं रयणप्पभा पुढवी आयातिय नो आयातिय य, से तेणट्ठेणं तं चेव जाव नो आयातिय । आया भंते ! सक्करप्पभा पुढवी जहा रयणप्पभा पुढवी तहा सक्क,

रप्पभाएत्ति, एवं जाव अहे सत्तमा । आया भंते ! सोहम्मकप्पे पुच्छा, गोयमा ! सोहम्मे कप्पे सिय आया सिय नो आया जाव नो आयाति य, से केणट्ठेणं भंते ! जाव नो आयातिय ?, गोयमा ! अप्पणो आइट्ठे आया परस्स आइट्ठे नो आया तदुभयस्स आइट्ठे अवत्तव्व आताति य नो आताति य, से तेणट्ठेणं तं चेव जाव नो आयाति य, एवं जाव अच्चुएकप्पे । आया भंते ! गेविज्जविमाणे अन्ने गेविज्जविमाणे एवं जहा रयणप्पभा तहेव, एवं अणुत्तरविमाणावि, एवं ईसिपब्भारावि । आया भंते परमाणुपोग्गले अन्ने परमाणुपोग्गले ?, एवं जहा सोहम्म कप्पे तहा परमाणुपोग्गलेवि भाणियव्वे ॥ आया भंते दुपएसिए खंधे अन्ने दुपएसिए खंधे ? गोयमा ! दुपएसिए खंधे सिय आया १ सिय नो आया २ सिय अवत्तव्वं आयाइ य नो आयातिय ३ सिय आया य नो आया य ४ सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आया तिय ५ सिय नो आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ६, से केणट्ठेणं भंते ?, एव तं चेव जाव नो आयाति य अवत्तव्वं अयाति य नो आयाति य गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १ परस्स आदिट्ठे णो आया २ तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं दुपएसिए खंधे आयाति य नो आयाति

य ३ देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे दुप्पएसिए खंधे आया य नो आया य ४ देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपएसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाइ य नो आयाइ य ५ देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपएसिए खंधे नो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६ से तेणट्ठेणं त चेव जाव नो आयाति य ॥ आया भंते ! तिपएसिए खंधे अन्ने तिपएसिए खंधे ?, गोयमा ! तिपएसिए खंधे सिय आया १ सिय नो आया २ सिय अवतव्वं आयाति य नो आयाति य ३ सिय आया य नो आया य ४ सिय आया य नो आयाओ य ५ सिय आयाउ य नो आया य ६ सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ७ सिय आयाइय अवत्तव्वाइं आयाओ य नो आयाओ य ८ सिय आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ९ सिय नो आया य अवत्तव्वं आयाति नो आयाति य १० सिय आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य नो आया य ११ सिय नो आयाओ य अवत्तव्वं आयाइ य नो आयाइ य १२ सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं आयाइ य नो आयाइय १३ से केणट्ठेणं भंते !, एवं वुच्चइ तिपएसिए खंधे सिय

आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपएसिए खंधे नो आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य नो आयाओ य ११ देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे नो आयाओ य अवत्तव्वं आयातिय नो आयाति य १२ देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसेआदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपएसिए खंधे आया य नो आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आयाइ य १३ से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ तिपएसिए खंधे सिय आया तं चेव जाव नो आयाति य ॥ आया भंते ! चउप्पएसिए खंधे अन्ने पुच्छा, गोयमा ! चउप्पएसिए खंधे सिय आया १ सिय नो आया २ सिय अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ३ सिय आया य नो आयाय ४ सिय आया य अवत्तव्वं ४ सिय नो आया य अवत्तव्वं ४ सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आयातिय १६ सिय आया य नो आयाय अवत्तव्वाइं आयाओ य नो आयाओ य १७ सिय आया य नो आयाओ य अवत्तव्व आयाति य नो आयाति य १८ सिय आयाओ य नो आयाय अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य १९ से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ चउप्पएसिए खंधे

सिय आया य नो आया य अवत्तव्वं तं चेव अट्ठे पडिउच्चारेयव्वं १, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १ परस्स आदिट्ठे नो आया २ तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ३ देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भाव पज्जवे चउभंगो, सब्भावपज्जवेणं तदुभयेण य चउभंगो असब्भावेणं तदुभयेण य चउभंगो, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पएसिए खंधे आया य नो आया य अवत्तव्व आयाति य नो आयाति य, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा चउप्पएसिए खंधे भवइ आया य नो आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य नो आयाओ य १७ देसे आदिट्ठे सब्भावज्जवे देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पएसिए खंधे आया य नो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य नो आयातिय १८ देसा आइट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आइट्ठे असब्भावप० देसे आइट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पएसिए खंधे आयाओ य नो आया य अवत्तव्वं आयाति य नो आयातिय १९ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ चउप्पएसिए खंधे सिय आया सिय नो

आया सिय अवत्तव्वं निक्खेवे ते चेव भंगा उच्चारेयव्वा जाव नो आयाति य ॥ आया भंते ! पंचपएसिए खंधे अन्ने पंचपएसिए खंधे ?, गोयमा ! पंचपएसिए खंधे सिय आया १ सिय नो आया २ सिय अवत्तव्वं आयाति य नो आयाति य ३ सिय आया य नो आया य सिय अवत्तव्वं ४ नो आया य अवत्तव्वेण य ४ तियग संजोगे एक्को ण पडइ, से केणट्ठे णं भंते ! तं चेव पडिउच्चारेयव्वं ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १ परस्स आदिट्ठे नो आया २ तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं ३ देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे एवं दुयग संयोगे सव्वे पडंति तियग संजोगे एक्को ण पडइ । छप्पएसियस्स सव्वे पडंतिजहा छप्पएसिए एवं जाव अणंतपएसिए । सेवं भंते । सेवं भंते त्ति जाव विहरति ॥ (सू० ४६६) ॥ दसमो उद्देसो समत्तो ॥ बारसमं सयं समत्तं ॥ १२—१० ॥

टीका :—आत्माधिकाराद् रत्नप्रभादिभावानात्मत्वादिभावेन चिन्तयन्नाह—'आयाभंते' इत्यादि, अतति—सततं गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा ततश्चात्मा–सद्रूपारत्नप्रभापृथिवी 'अन्न' त्ति अनात्मा असद्रूपेत्यर्थ. 'सिय आया सिय नो आय' त्ति स्यात्सती स्यादसती 'सिय अवत्तव्वं' त्ति आत्मत्वेनानात्मत्वेन च व्यपदेष्टुमशक्यं वस्त्विति भावः, कथमवक्तव्यम् ? इत्याह—आत्मेतिच नो आत्मेति च वक्तुमशक्यमित्यर्थ,

'अप्पणो आइट्ठ' त्ति आत्मनः—स्वस्य रत्नप्रभाया एव वर्णादिपर्यायैः 'आदिट्ठ' आदेशेसति तैर्व्यपदिष्टा सतीत्यर्थः आत्मा भवति, स्वपर्यायापेक्षया सतीत्यर्थः 'परस्स आइट्ठे नो आया' त्ति परस्य शर्करादिपृथिव्यन्तरस्य-पर्यायैरादिष्टे—आदेशेसति तैर्व्यपदिष्टा सतीत्यर्थः नो आत्मा—अनात्मा भवति, पररूपापेक्षयाऽसतीत्यर्थः, 'तदुभस्य आइट्टे अवत्तव्वं' त्ति तयोः स्वपरयोरुभयं तदेव वोभयं तदुभयं तस्य पर्यायैरादिष्टे—आदेशे सति तदुभयपर्यायैर्व्यपदिष्टेत्यर्थ 'अवक्तव्यम्' अवाच्यं वस्तु स्यात् तथाहि— न ह्यसौ आत्मेति वक्तुं शक्या, परपर्यायापेक्षयाऽनात्मत्वात्तस्याः, नाप्यनात्मेति वक्तुं शक्या, स्वपर्यायापेक्षया तस्या आत्मत्वादिति, अवक्तव्यं चात्मानात्मशब्दापेक्षयैव न तु सर्वथा अवक्तव्यशब्देनैव तस्या उच्यमानत्वात् अनभिलाप्यभावानामपि भावपदार्थवस्तु प्रभृतिशब्दैरनभिलाप्यशब्देन वाऽभिलाप्यत्वादिति, एवं परमाणु सूत्रमपि ॥ द्विप्रदेशिक सूत्रे षड्भंगाः तत्राद्यस्त्रयः सकलस्कन्धापेक्षा. पूर्वोक्ता एव, तदन्ये तु त्रयोदेशापेक्षाः तत्र च 'गोयमे' त्यत आरभ्य व्याख्यायते 'अप्पणो' त्ति स्वस्य पर्यायैः 'अदिट्ठे' त्ति आदिष्टे—आदेशे सति आदिष्ट इत्यर्थः द्विप्रदेशिकस्कन्ध-आत्मा भवति १ एवं परस्य पर्यायैरादिष्टोऽनात्मा २ तदुभयस्य—द्विप्रदेशिकस्कन्धतदन्यस्कन्धलक्षणस्य पर्यायैरादिष्टोऽसाववक्तव्यं वस्तु स्यात्, कथम् ? आत्मेति चानात्मेति चेति ३ तथा द्विप्रदेशत्वात्तस्य देश एक अदिष्टः, सद्-भावप्रधाना सत्तानुगताः पर्यवायस्मिन् स सद्भावपर्यव , अथवा तृतीयबहुवचनमिदं स्वपर्यवैरित्यर्थः, द्वितीयस्तु देश आदिष्टः असद्भावपर्यवः पर-पर्यायैरित्यर्थः , परपर्यवाश्च तदीय द्वितीयदेशसम्बन्धिनो वस्त्वन्तरसम्बन्धिनो वेति ततश्चासौ द्विप्रदेशिकः स्कन्ध. क्रमेणात्मा चेति नोआत्मा चेति

४, तथा तस्य देश आदिष्टः सद्भावपर्यवो देशश्चोभयपर्यवस्ततोऽसावात्मा चाववतव्यंचेति ५ तथा तस्यैव देश आदिष्टोऽसद्भावपर्यवोदेशस्तूभयपर्यव स्ततोऽसौ नोआत्मा चावक्तव्यं च स्यादिति ६ सप्तमः पुनरात्मा च नोआत्मा चावक्तव्यं चेत्येवंरूपो न भवति द्विप्रदेशिके, द्वयंशत्वादस्य त्रिप्रदेशिकादौ तु स्यादिति सप्तभंगी ॥ त्रिप्रदेशिस्कन्धे तु त्रयोदश भङ्गास्तत्रपूर्वोक्तेषु सप्तस्वाद्या सकलादेशास्त्रयस्तथैव, तदन्येषु तु त्रिषु त्रयस्त्रय एकवचनबहुवचनभेदात् सप्तमस्त्वेकविध एव स्थापनाचेयम् यच्चेह प्रदेशद्वये-

आ १ नो १ अव १	नो १ २ १	आ १ २ १	अव १ २ १	आ १ नो १ अव १
	आ १ १ २	आ १ १ २	नो १ १ २	

ऽप्येकवचनं कचित्तत्तस्य प्रदेशद्वयस्यैकप्रदेशावगाढत्वादि हेतुनैकत्वविवक्षणात्, भेदविवक्षायां च बहुवचनमिति ॥ चतुष्प्रदेशिकेऽप्येवं, नवरमेकोनविंशतिभङ्गाः तत्र त्रयः सकलादेशाः तथैव शेषेषु चतुर्षु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पाः ते चैवं चतुर्थादिषु त्रिषु

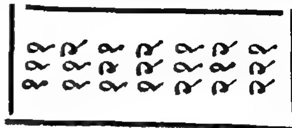
१	२	१	२
१	१	२	२

सप्तमस्त्वेवं—

१	२	१	१
१	१	२	१
१	१	१	२

पंचप्रदेशिके तु द्वाविंशतिस्तत्राद्यास्त्रयस्तथैव, तदुत्तरेषु च त्रिषु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पा

स्तथैव, सप्तमे तु सप्त, तत्र त्रिकसंयोगे किलाष्टौ भंगका भवन्ति तेषु च सप्तैवेह ग्राह्याः, एकस्तु तेषु न पतत्यसंभवात् , इदमेवाह—'तिगसजोगे त्यादि, तत्रैतेषां स्थापना



यश्च न पतति— स पुनरयम् २२२, षट्प्रदेशिके त्रयो विंशतिरिति ॥ द्वादशशते दशमः १२, १० समाप्तं च द्वादशशत विवरणम् ॥

सू० ४६६ व्याख्या प्र शतक १२ उद्दे० १०

मूल.—अद्दायं पेहमाणे मणूसे अद्दायं पेहति अत्ताणं पेहइ पलिभागं पेहति ? गोयमा ! अद्दायं पेहति नो अप्पाणं पेहति पलिभाग पेहति, एवं एतेणं अभिलावेणं असि मणि दुद्धं पाणं तेल्लं फाणियं वसं (सूत्रं १६७)

टीका— अद्दायं पेहमाणे' इत्यादि, ' अद्दाय' मिति आदर्शं 'पेहमाणे' इति प्रेक्षमाणो मनुष्यः किमादर्शं प्रेक्षते आहोश्विदात्मानं ? अत्रात्मशब्देन शरीरमभिगृह्यते, उत' पलिभाग' मिति प्रतिभागं प्रतिविम्बं ? भगवानाह—आदर्शं तावत् प्रेक्षत एव तस्य स्फुटरूपस्य यथावस्थिततया तेनोपलम्भात्, आत्मानं—आत्मशरीरं पुनर्न पश्यति, तस्य तत्राभावात्, स्वशरीरं हि स्वात्मनि व्यवस्थितं नादर्शे तत' कथमात्मशरीरञ्च तत्र पश्येदिति ? प्रतिभागं—स्वशरीरस्य प्रतिविम्बं पश्यति, अथकिमात्मकं प्रतिविम्बम् ? उच्यते, छायापुद्गलात्मकं, तथाहि—सर्वमैन्द्रियक वस्तु स्थूलं चयापचयधर्मकं रश्मिवञ्च, रश्मय इति छाया पुद्गलाः व्यवह्रियन्ते

छायापुद्गला· प्रत्यक्षत एव सिद्धाः, सर्वस्यापि स्थूलवस्तुनः छाया, अध्यक्षत प्रतिप्राणि प्रतीते . अन्यच्च यदि स्थूलवस्तु व्यवहिततया दूरस्थिततया वा नादर्शादिष्ववगाढरश्मिर्भवति, ततो न तत्र तद् दृश्यते तस्मादवसीयते सन्ति छाया पुद्गलाः इति, ते च छायापुद्गलास्तत्तत सामग्रीवशाद् विचित्र परिणमनस्वभावास्तथाहि—ते छाया पुद्गला दिवा वस्तुन्यभास्वरे प्रतिगताः सन्तः स्वसंबंधि द्रव्याकारमाविभ्राणाः श्यामरूपतया परिणमन्ते निशि तु कृष्णाभाः, एतच्च प्रसरति दिवसे सूर्य्यकरनिकरे निशि तु चन्द्रोद्योते प्रत्यक्षत एव सिद्ध, त एव छाया—परमाणवः आदर्शादिभास्वर द्रव्यप्रतिगताः सन्त· स्वसंबंधिद्रव्याकारमादधानाः यादृग् वर्ण. स्वसम्बन्धिनिद्रव्ये कृष्णो नीलः शित पीतो वा तदाभाः परिणमन्ते, एतदप्यादर्शादिष्वध्यक्षतः सिद्धं, ततोऽधिकृतसूत्रेऽपि ये मनुष्यस्य छायापरमाणवः आदर्शमुपसंक्रम्य स्वदेहवर्णतया स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते तेषां तत्रोपलब्धिर्न शरीरस्य, ते च प्रतिविम्वशब्दा वाच्या अत उक्तं—न शरीरं पश्यति किन्तु प्रतिभागमिति, नैवेतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितं, यत उक्तमागमे—'सामा उ दिया छाया अभासुरगता निसिं तु कालाभा । सा चेव भासुर गया सदेह वण्णा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ छाया—श्यामा तु दिवा छाया अभास्वरगता निशि तु कालाभा । सैव भास्वरगता स्वदेहवर्णा ज्ञातव्या ॥ १ ॥ जे आदरिसस्सन्तो देहावयवा हवंति सकंता । तेसिं तत्थुवलंभो पगासजोगा न इयरेसिं ॥ २ ॥ छाया—ये आदर्शस्यान्तर्देहावयवा भवन्ति संक्रान्ताः । तेषां तत्रोपलम्भः प्रकाशयोगात् नेतरेषाम् ॥२॥ मूलटीकाकारोऽप्याह—यस्मात सर्वमेवहि ऐन्द्रियकं स्थूलं

द्रव्यं चयापचयधर्मिकं रश्मिवच्च भवति, यतश्चादर्शादिषु छाया स्थूलस्य दृश्यते अवगाढ रश्मिनः तत स्थूलद्रव्यस्य कस्यचिद्दर्शन भवति, नचान्तरितं दृश्यते किञ्चित अति दूरस्थं वा अत ' पलिभागं ' प्रति भागं ' पेहति ' पश्यतीति । एवमसिमण्यादि विषयाण्यपि षट् सूत्राणिभावनीयानि, सूत्रपाठोऽप्येवम्—'असिं देहमाणेमणूसे किं असिं देहइ अत्ताणं देहइ पलिभाग देहइ ? इत्यादि, गोयमा ! असिं देहइ नो अत्ताणं देहइ पलि भागं देहइ' इत्यादि ।।

प्रज्ञापना सूत्रपद १५ उद्देश १ सू० सं १६७।।

———

ज्ञान विषयः

'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायतोज्ञानभेदानाह—

' तत्थ पंचविहं नाणं सुअं आभिणि बोहियं ।
ओहियनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ॥'

उत्तराध्ययन—सूत्र मोक्षमार्ग गत्यध्ययन २८, गाथा, ४ ॥

टीका:—'तत्र' इति तेषु ज्ञानादिषु मध्ये ' पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, किं तत्? ज्ञानं, क एते पञ्च प्रकारा इत्याह—श्रूयते तदिति श्रुतं—शब्द मात्र, तच्च द्रव्यश्रुतमेव, यत पुनः शब्दमाकर्णयत. स्वयं वा वदतः पुस्तकादिन्यस्तानि वा चक्षुरादिभिरक्षराण्युपलभमानस्य शेषेन्द्रियगृहीतं वाऽर्थं विकल्पयतोऽक्षरानुरूपित विज्ञानमुपजायते तदिह भावश्रुतं श्रुतशब्देनोक्तं, तथाऽभिमुखो योग्यदेशावस्थित वस्त्वपेक्षया नियतः स्वस्वविषयपरिच्छेदकतयाऽवबोधः—अवगमोऽभिनिबोध. स एवाभिनिबोधिकं, विनयादित्वात् स्वार्थिकष्ठक्, ' ओहि' त्ति अवशब्दोऽध· शब्दार्थः, ततश्चाधः इत्यधस्ताद्धावति अधोऽधा विस्तृतविषयवेदकतयेत्यवधि., औणादिको डि , यद्वा 'अवेत्यध एव धानं धातूनामनेकार्थत्वात् परिच्छेदोऽवधिः, उपसर्गे घोः किरिति (पा. ३-३-९२) किः, अथवाऽवधिः—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृतिरित्येवरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञातिर्वा ज्ञानं ततोऽवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानं, तृतीयं तृतीय

स्थानवर्त्तित्वात्, ' मणणाणं' ति मनः शब्देन द्रव्यपर्याययो. कथञ्चिद् भेदात् मनोद्रव्यपर्याया गृह्यन्ते, तेषु तत्तत् संज्ञिविकल्पहेतुषु ज्ञानं मनो ज्ञानं, तानेव हि मनः पर्यायज्ञानी साक्षादेव बुध्यते नतु वाह्यान्, अनुमान गम्यमानत्वात्तेषाम्; उक्तं हि—'जाणति वज्भेऽणुमाणाओ' त्ति च. समुच्चये भिन्नक्रमस्तत' केवलं च, तत्र केवलम्—एकमकलुषं सकलम-साधारणमनन्तं च ज्ञानमिति प्रक्रम, उक्तं हि—' केवलमेगं सुद्धं सकलमसाधारणं अणंत च' छाया—केवलमेकं शुद्धं सकलमसाधारण मनन्तं च । आह—नन्द्यादिषु मतिज्ञानानन्तरं श्रुतज्ञानमुक्तं तदिह किमर्थमादित एव श्रुतोपादानं ? उच्यते, शेषज्ञानानामपि स्वरूपज्ञानस्य प्रायस्तदधीनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥

साम्प्रतं ज्ञानशब्दस्य सम्बन्धि शब्दत्वाद् येषां तज्ज्ञानं तान्य-भिधातुमाह—

मूल —एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य ।

पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहिं देसिय ॥५॥

टीका :—'एतद्' अनन्तरोक्तं पञ्चविधं ज्ञानं द्रवन्ति गच्छन्ति तांस्तान्पर्यायानिति द्रव्याणि—वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषां 'च' तद्गताने-कभेदख्यापको, गुणानां—रूपादीना, च प्राग्वत्, परीति—सर्वतः, कोऽर्थः ? द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवास्तेषा च 'सर्वेषाम्' अशे-षाणां, केवलापेक्षया चायं द्रव्यकात्स्न्र्ये, सर्व शब्दः शेष ज्ञानापेक्षया तु प्रकारकात्स्न्र्ये, प्रतिनियतपर्यायग्राहित्वात्तेषां, 'ज्ञानम्'

अवबोधकं 'ज्ञानिभिः' अतिशयज्ञानोपेतै' केवलिभिरिति यावत् 'देशितं कथितम् । अनेन च यदाहुः—ज्ञान ज्ञानस्वरूपस्यैव ग्राहकं, वाह्यभिमतस्य वस्तुनो ज्ञानातिरिक्तस्यासत्वाद्, अत एवोक्त—स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति, तन्निरस्तम्, अन्त सुखादिप्रतिभासवद् वहि. स्थूलप्रतिभासस्यापि स्वसंविदितत्वात् , न च युगपद्वेद्यमानयोरेकस्य तात्त्विकत्वमित्तरस्य त्वन्यथात्वमिति निमित्तं विना कल्पयितु' शक्यं, अथैकत्राविद्योपदर्शितत्वं तत् कल्पनिमित्त', न यतस्तदितरत्रापि किं न कल्प्यते ?, निमित्तं विना कल्पनाया उभयत्राविशेषात् , तथा च ज्ञानस्यप्यभावेन सर्वशून्यतापत्तिरित्यलं प्रसंगेनेति सूत्रार्थ' ॥ अनेन द्रव्यादिविषयत्वं ज्ञानस्योक्तं, तत्र च द्रव्यादीनि किं लक्षणानी इत्यत आह—

मूल —गुणाणं आसओ दव्वं, एगदव्वंस्सिया गुणा ।

लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

टीका :—'गुणानां' वक्ष्यमाणाना 'आश्रय' आधारो यत्रस्थास्त उत्पद्यन्ते उत्पद्य चावतिष्ठन्ते प्रलीयन्ते च तद् द्रव्यम्, अनेन रूपादय एव वस्तु न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति तथागतमतमपास्तं, तथाहि—यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ न तत्ततोऽभिन्नं, यथा घटात्पटो, न भवतश्च पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ, न चायमसिद्धो हेतु, स्थासकोशकुशूलाद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्यानुगामित्वेन दर्शनात् , न चास्य मिथ्यात्व कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धे , उक्त हि—"योह्यन्यरूपसंवेद्यः, संवेद्यतान्यथा पुन । स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥१॥"

तथैकस्मिन् द्रव्ये स्वाधारभूते आश्रिता स्थिता.—एकद्रव्याश्रिताः, के ते ?—'गुणाः' रूपादय., एतेन च ये द्रव्यमेववेच्छन्ति तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपादीनविद्योपदर्शितानाहुस्तन्मतनिषेध कृत', सविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयो, न च रूपाद्युत्कलितरूप कदाचित्केनचिद् द्रव्यमवगतमवगम्यते वा, अथ तद्विवर्त्त एव रूपादयो न तु तात्त्विका. केचन तद्भेदेन सन्ति, नन्वेवं रूपादिविवर्त्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्प्यते ? अथ तथैव प्रतीते:, एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयात्मकमस्तु, लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षण 'पर्यवाणा' वक्ष्यमाणरूपाणां 'तु' विशेषणे 'उभयो ' द्वयोः प्राकृतत्वाद् द्रव्यगुणयोराश्रिताः 'भवे' त्ति 'भवेयु.' स्युः । अनेन च य एवमाहुः —यदाद्यन्तयोरसत् मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकादौ जलादि, न सन्ति च कुशूलकपालाद्यवस्थयोर्घटादिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवादिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसत्यैराकाशकेशादिभि. सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते, यथोक्तम्— "आदावन्ते च यन्नास्ति मध्येऽपि न तत्तथा । वितथै सदृशा' सन्तोऽवितथा इव लक्षिता ॥१॥" तेऽपाकृता , तथाहि—आद्यन्तयोरसत्त्वेनमध्येऽपित्रप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकूतं—यत् क्वचिदसत्तत्सर्वस्मिन्नसदिति, ततश्च मृद्द्रव्येऽप्यद्रव्यस्यासत्त्वात्सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसगः, अथेष्टमेवैतत् , सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात्, उक्त हि--"सर्वमेकं सदविशेषात्" नन्वेवमभावे भावाभावाद्भावस्यापि सर्वत्राभाव प्रसङ्गः, तस्माद्बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वे निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्वे तस्यावश्यंभाव , ततो द्रव्यवत्पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्त्वमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणादिपर्याया प्रत्यक्षप्रतीता कियत्कालभाविन', प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाद्यन्यथानुपपत्ते

तोऽवसीयन्ते, ततश्च द्रव्यगुणपर्यायात्मकमेकं, शबलमणि वच्चित्रप-तंगादिवद् वस्त्विति स्थितमिति सूत्रार्थः ॥ आह—गृह्णीमो 'गुणानामश्रयो द्रव्य'मिति द्रव्यलक्षणं' तच्चैवंलक्षणं द्रव्यं किमेकमेवोत तस्यभेदा अपि सन्तीत्याह—

मूलः—धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥

टीकाः—'धर्म' इति धर्मास्तिकायः 'अधर्म' इत्यधर्मास्तिकायः 'आकाश' मित्याकाशास्तिकायः 'काल' अद्धासमयात्मकः 'पुद्गलजन्तवः', इति पुद्गलास्तिकायः जीवास्तिकायः, एतानि द्रव्याणीति शेषः प्रसंगतो लोकस्वरूपमप्याह—एष इत्यादि, सुगममेव, नवरमेष इति-सामान्यतः प्रतीतो लोक इत्येवं स्वरूपः, कोऽर्थः ?, अनन्तरोक्तद्रव्यषट्कात्मक, उक्तं हि—'धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत्क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥१॥ इति सूत्रार्थ ॥ आह किमेतेऽपि धर्मादयो भेदवन्त उतान्यथा ? उभयथाऽपीति ब्रूमः तथाचाह—

मूलः—"धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो ॥८॥

टीकाः—धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यमिति धर्मादिभिः प्रत्येकं योज्यते ए 'एकैकं एक संख्यायो एवैतेषु भावाद् आख्यातं तीर्थकृद्भिरिति गम्यते तत किं कालादिद्रव्याण्यप्येवमेवेत्याह—' अनन्तानि ' अनन्तसंख्यानि स्वगतभेदानन्त्यात 'चः' पुनरर्थे उत्तरत्र योद्यते, कानि ? द्रव्याणि,

कतमानि ? काल पुद्गल जन्तवश्चोक्तरूपाः, कालस्य चानन्त्यमतीतानागतापेक्षयेति सूत्रार्थः ॥ एषां परस्परभेदनिबन्धनं लक्षणभेदमाह—

मूल :—गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥९॥
वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेण च सुहेण य दुहेण य ॥१०॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगे य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥
सद्दंधयार उज्जोओ, पभा छाया तवुत्ति वा ।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥

टीका:— गमनं गति -देशान्तरप्राप्तिः लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, गतिर्लक्षणमस्येति गतिलक्षणः, तु, पूरणे, कोऽसौ ? धर्मास्तिकायः, आह—सिद्धे सति वस्तुनोऽस्तित्वे इदमनेन लक्ष्यत इति वक्तुं युक्तम्, अस्य तु सत्त्वमेवासिद्धम्, अत्रोच्यते, यद्यच्छुद्धपद वाच्यं त यथा स्तम्भादिः, शुद्धपदवाच्यश्च धर्मनामास्तिकायो, नचा धर्म इत्यस्यैतद् वाचकस्यासमस्तपदत्वेन तथाऽभिधेयार्थबाधक भावात्, प्रमाणान्तर बाधितविषयत्वाख्यदोषरहितत्त्वेन च नच खपुष्पादिषु संकेतितैर्डुःखादि शुद्धपदैरनेकान्तो, सङ्केतविषयाणामेवशुद्धपदानां वाच्यत्वस्येह हेतुत्वेनेष्ट

प्रतिपत्त्राभाव्यम्, अन्यथा धूमादेरपि गोपालघटादिष्वन्यथाभाव-दर्शनादेप प्रसङ्गो दुर्निवार स्यात्, उक्तञ्च—'अत्थित्ति निव्वियप्पो जीवो नियमा उ सद्दतो सिद्धी। कम्हा? सुद्ध पयत्ता घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ १ ॥ छाया—अस्तीति निर्विकल्पो जीवो नियमात् शब्दत एव सिद्धि.। कस्मात्? शुद्धपदत्वात् घटखरशृंगानुमानात् ॥ १ ॥ इत्याद्यलं प्रसङ्गेन, तथा 'अधर्मः' अधर्मास्तिकाय. स्थिति' स्थानं गतिनिवृतिरित्यर्थः। तल्ल-क्षणमस्येति स्थानलक्षण., स हि स्थितिपरिणताना जीवपुद्गलाना स्थितिलक्षणकार्य्यं प्रत्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति तेनैव लक्ष्यत इत्युच्यते, अनेनाप्यनुमानमेव सूचितं, तच्चेदम्—यद्यत्कार्य्यं तत्तदपेक्षा कारणवद्, यथाघटादि, कार्यचासौ स्थिति, यच्च तदपेक्षाकारणं तदधर्मा-स्तिकाय इति, अत्र च नैयायिकादिः सौगतो वा वदेत्—नास्ति अधर्मा-स्तिकाय., अनुपलभ्यमानत्वात्, शशविषाणवत्, तत्र यदि नैयायिकादि-स्तदाऽसौ वाच्यः—कथं भवतोऽपि दिगादयः सन्ति? अथ दिगादिप्रत्यय-लक्षणकार्यदर्शनात्, भवति हि कार्यात् कारणानुमानम्। एवं सति स्थिति-लक्षणकार्यदर्शनादयमत्यस्तीति किं न गम्यते? अथ तत्र दिगादि प्रत्यय-कार्यस्यान्यतोऽसभवात् कारणभूतान् दिगादीननुमिमीमह इति मतिः, इहाप्याकाशादीनामवगाहदानादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसभवादधर्मास्ति कायस्यैव स्थितिलक्षणं कार्य्यमिति कि नानुमीयते? अथासौ न कदाचिद् दृष्ट? एतद्दिगादिष्वपि समानम्। अथ सौगतः सोऽप्येवं वक्तव्य' यथा—भवत' कथं बाह्यार्थसंसिद्धि.? नहि कदाचिदसौ प्रत्यक्ष गोचर', साकारज्ञानवादिनः सदा तदाकारस्यैव संवेदनात्; तथा च तस्या प्यनुपलभ्यमानत्वादभाव एव, अथाकारसंवेदनेऽपि तत् कारणमर्थः परि-

कल्प्यते, धूमज्ञान इवाग्नि. एवं सति स्थितिदर्शनेऽपि किं न तत् कारणस्याधर्मास्तिकायस्य निश्चय. ? अथायमप्यभिदधीत—न कदाचिदसौ तत् कारणत्वेनेक्षित इति, ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत्, नहि सोऽपि तदाकार कारितया कदाचिदवलोकित', अथ मनस्कारस्य चिद्रूपतायामेव व्यापारो नतु नियता (त) कारणत्वे, अतस्तत्रार्थ. कारण कल्प्यते, एव तर्हि जीव पुद्गलौ परिणाममात्र एव कारणं, स्थितिपरिणतौ पुनरधर्मास्तिकायोऽपेक्षा कारणत्वेन व्याप्रियत इति किं न कल्प्यते ? अथासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन स्थिति—कारणं भवेत्, नन्वेवमर्थोऽपि किं सन्निहित इत्येव स्वाकारमर्पयति ? अथ चक्षुरादि व्यापारमयमपेक्षते, अधर्मास्तिकायोऽपि तर्हि स्वपरगतौ विश्रसाप्रयोगावपेक्षत इति नानयोर्विशेषमुत्पश्याम', तथा 'भाजनम्' आधार. 'सर्वद्रव्याणा' जीवादीना 'नभ' आकाशम्, अवगाह'— अवकाशस्तल्लक्षणमस्येत्यवगाहलक्षण तद्धयव गाढुं प्रवृत्तानामालम्बनी भवति, अनेनावगाहकारणत्वमाकाशस्योक्त न चास्य तत् कारणत्वमसिद्ध, यतो यद्यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्यं, यथा चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायि रूपादि विज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुविधायीचावगाह:, तथाहि—शुषिर रूपमाकाशं, तत्रैव चावगाहो, न तु तद्विपरीते पुद्गलादौ, अ- काशेऽपि कथं नावगाह' ? उच्यते, स्यादेव यदि कश्चिदवगाहि तत्र तु धर्मास्तिकायस्य जीवादीनां चासत्त्वेन तस्यैवाभाव समस्तु ? नन्वेवमपि न तत् सिद्ध, हेतोरसिद्धत्वात्, त- भावत्. सति हि—तस्मिन् भवनमन्वयो, न च तत् ... याभावे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरिति, ननु कथं न ...

भित्याद्यभाव एवाकाशमिति, एवं सत्याकाशाभाव एव भित्त्यादय इत्यपि किं न भवति ? अथ तेषां प्रमाणप्रतीतत्वात्, इहापि किं न प्रमाणप्रतीति ? तथाहि — वियति विहग इत्यादि, प्रतीत्यन्यथानुपपत्याऽनुमानतस्तत् सिद्धः नचेयं प्रतीतिरन्यथाऽपि संभवतीति न ततस्तत् सिद्धिरिति (वक्तुं) युक्तं एवं हि भित्त्यादिप्रतीतेरपि भित्त्याद्यभावेऽपि भावकल्पनया तेषामप्यभावप्रसक्ति, अथ तत् प्रतीते. प्रामाण्यनिश्चय इति नान्यथात्वकल्पना, एवं तर्हि वक्तव्यं—कुतोऽस्या: प्रमाणनिश्चय ? किं प्रमाणान्तरानुग्रहात्, वाधकाभावाद् वा ? यदि प्रमाणान्तरानुग्रहात्, किं तत् प्रमाणान्तरं ? य इहावाधितप्रत्ययः स सर्वः प्रमाणं, यथा सुखादिप्रत्यय,: बाधितप्रत्ययाश्चामी भित्यादिप्रत्यया इत्यनुमानमितिचेत् यद्येवमिहापि यो य इह प्रत्यय: स सर्वः सालम्वनो यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः इह प्रत्ययश्चायम् इह विहग इति प्रत्यय इत्यनुमानमस्त्येव, अथैवमाधारमात्रस्यैव सिद्धिः नत्वाकाशस्य कथं न तत् सिद्धिः ? यदेव ह्याधारमात्रं तदेवाकाशमिति वयं ब्रूम, अथ वाधकाभावात्, ननु वाधकमपि विपरीत प्रत्ययोत्पत्तिरूपं, तदभावश्चोभयत्र समान इति न भित्याद्यभाव एवाकाशं किंतुशु।पेर रूपमन्यदेव, ततस्तद्भावभावितत्त्वादवगाहस्य कथं न तत् कारणत्वसिद्धिराकाशस्य ? एवञ्च स्थितमेतद् — अवगाहेन कार्यरूपेण लक्ष्यमाणत्वादवगाहलक्षणं नभः, तथा वर्त्तन्ते — भवति भावास्तेन तेन रूपेण तान् प्रतिप्रयोजकत्वं वर्त्तना सा लक्षणं — लिङ्गमस्येति वर्त्तना लक्षण:, कोऽसौ ? काल:, इदमुक्त भवति—यदमी शीतवातातपादय. ऋतु विभागेन भवन्ति यश्च केचिच्छशधरकरनिकरा-

नुकारिपारतीप्रसवा अन्ये तु तुहिनशिलाशकलविशदकुन्दमालतीकुसुमवा-
सर्वांहन अपरे च केशरतिलकुरुवकशिरीषाङ्कोल्लप्रसूनजृम्भमाण
परागभाजः तदितेर च करिदशनसकलधवलमल्लिकाविहलपारमल
हारिणः परे च कदम्बकेतकरज पूरपूरिताम्बरा अपरे तु सप्तच्छद
कुसुमरजोधूलिधूसरितविश्वविश्वंभरा. अविशिष्टविशिष्टवस्तव प्रकाशन्ते
क्रमेणैव भुवनभागांस्तदवश्यममीषां नैयत्यहेतुना केनापि भवितव्यं,
स च काल इत्यलं प्रसगेन, सर्वथा वर्त्तनया लक्ष्यमाणत्वादस्ति काल
इति स्थित, तथा 'जीव.' जन्तुरूपयोगो—मतिज्ञानादि लक्षण—रूप यस्या-
सौ उपयोगलक्षणो, मतिज्ञानादिको ह्युपयोगस्तद्धर्म, स च स्वसविदित
एवेति, तदनुभवतो रूपाद्यनुभवादिव घटादिर्जीवो लक्ष्यत इति तल्लक्षणमु-
च्यते, प्रपञ्चितं चैतदिहैव प्रागन्यत्रचेति न पुन प्रतन्यते, अत एव
'ज्ञानेन' विशेषग्राहिणा 'दर्शनेन च' सामान्य विषयेण 'सुखेन च'
आह्लादरूपेण दु खेन च—तद्विपरीतेन प्रक्रमाल्लक्ष्यत इति गम्यते. न हि
ज्ञानादीन्यजीवेषु कदाचिदुपलभ्यन्त इतिकृत्वा । सम्प्रति विनेयानां दृढतर-
संस्काराधनाय उक्तलक्षणमनूद्य लक्षणान्तरमाह—'ज्ञान च' उक्त
रूपमेवं दर्शन चैव चरित्रं च तपस्तथा 'वीर्य' वीर्यान्तरायक्षयोपशम
समुत्थ सामर्थ्यलक्षणम् 'उपयोगश्च' अवहिततत्वं, किमित्याह—'एतत'
ज्ञानादि जीवस्य लक्षणम्, एतेन हि जीवोऽनन्यसाधारणतया लक्ष्यत
इति । इत्थ जीवलक्षणमभिधाय पुद्गलानां लक्षणमाह—'शब्द' ध्वनि
'अंधकार' तिमिरम्, उभयत्रसूत्रत्वात् सुपोलुक्, 'उद्योत.' रत्नादिप्रकाश.
'प्रभा' चन्द्रादिदीधितिः 'छाया' शैत्यगुणा. 'आतप' रविबिम्बजनित
उष्णप्रकाशः इति शब्द आद्यर्थः, ततश्च सम्बन्धभेदादीना परिग्रह., व

भित्याद्यभाव एवाकाशमिति, एवं सत्याकाशाभाव एव भित्त्यादय इत्यपि किं न भवति ? अथ तेषां प्रमाणप्रतीतत्वात्, इहापि किं न प्रमोणप्रतीति· ? तथाहि — वियति विहग इत्यादि, प्रतीत्यन्यथानुपपत्याऽनुमानतस्तत् सिद्धः नचेयं प्रतोतिरन्यथाऽपि संभवतीति न ततस्तत् सिद्धिरिति (वक्तु) युक्तं एवं हि भित्त्यादिप्रतीतेरपि भित्त्याद्यभावेऽपि भावकल्पनया तेषामप्यभावप्रसक्ति·, अथ तत् प्रतीते प्रामाण्यनिश्चय इति नान्यथात्वकल्पना, एवं तर्हि वक्तव्य—कुतोऽस्या· प्रमाणनिश्चयः ? किं प्रमाणान्तरानुग्रहात्, बाधकाभावाद् वा ? यदि प्रमाणान्तरानुग्रहात् , किं तत् प्रमाणान्तरं ? य इहाबाधितप्रत्यय. स सर्वः प्रमाणं, यथा सुखादिप्रत्यय,: बाधितप्रत्ययाश्चामी भित्यादिप्रत्यया इत्यनुमानमितिचेत् यद्येवमिहापि यो य इह प्रत्ययः स सर्व. सालम्बनो यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः इह प्रत्ययश्चायम् इह विहग इति प्रत्यय इत्यनुमानमस्त्येव, अथैवमाधारमात्रस्यैव सिद्धिः नत्वाकाशस्य कथं न तत् सिद्धिः ? यदेव ह्याधारमात्रं तदेवाकाशमिति वय ब्रुम , अथ बाधकाभावात्, ननु बाधकमपि विपरीत प्रत्ययोत्पत्तिरूपं, तदभावश्चोभयत्र समान इति न भित्याद्यभाव एवाकाशं किंतुशुपिर रूपमन्यदेव, ततस्तद्भावभावितत्त्वादवगाहस्य कथं न तत् कारणत्वसिद्धिराकाशस्य ? एवञ्च स्थितमेतद् — अवगाहेन कार्यरूपेण लक्ष्यमाणत्वादवगाहलक्षणं नभः, तथा वर्त्तन्ते — भवन्ति भावास्तेन तेन रूपेण तान् प्रतिप्रयोजकत्वं वर्त्तना सा लक्षणं — लिङ्गमस्येति वर्त्तना लक्षण., कोऽसौ ? कालः, इदमुक्त भवति—यदमी शीतवातातपादयः ऋतु विभागेन भवन्ति यच्च केचिच्छशधरकरनिकरा-

नुकारिपारतीप्रसवा अन्ये तु तुहिनशिलाशकलविशदकुन्दमालतीकुसुमवासवाहिन' अपरे च केशरतिलकुरुबकशिरीषाङ्कोल्लप्रसूनजृम्भमाण परागभाजः तदितेर च करिदशनसकलधवलमल्लिकाबहलपरिमल हारिणः परे च कदम्बकेतकरजःपूरपूरिताम्बरा अपरे तु सप्तच्छद कुसुमरजोधूलिधूसरितविश्वविश्वंभरा अविशिष्टविशिष्टवस्तव' प्रकाशन्ते क्रमेणैव भुवनभागांस्तदवश्यममीषां नैयत्यहेतुना केनापि भवितव्य, स च काल इत्यलं प्रसंगेन, सर्वथा वर्त्तनया लक्ष्यमाणत्वादस्ति काल इति स्थित, तथा 'जीवः' जन्तुरूपयोगो—मतिज्ञानादि लक्षण—रूपं यस्यासौ उपयोगलक्षणो, मतिज्ञानादिको ह्युपयोगस्तद्धर्म, स च स्वसंविदित एवेति, तदनुभवतो रूपाद्यनुभवादिव घटादिर्जीवो लक्ष्यत इति तल्लक्षणमुच्यते, प्रपञ्चितं चैतदिहैव प्रागन्यत्रचेति न पुन. प्रतन्यते, अत एव 'ज्ञानेन' विशेषग्राहिणा ' दर्शनेन च ' सामान्य विषयेण ' सुखेन च ' आह्लादरूपेण दु खेन च—तद्विपरीतेन प्रक्रमाल्लक्ष्यत इति गम्यते, न हि ज्ञानादीन्यजीवेषु कदाचिदुपलभ्यन्त इतिकृत्वा । सम्प्रति विनेयानां दृढतरसस्काराधनाय उक्तलक्षणमनूद्य लक्षणान्तरमाह—' ज्ञान च ' उक्त रूपमेवं दर्शन चैव चरित्रं च तपस्तथा ' वीर्य' वीर्यान्तरायक्षयोपशम समुत्थं सामर्थ्यलक्षणम् 'उपयोगश्च' अवहिततत्वं, किमित्याह—' एतत ' ज्ञानादि जीवस्य लक्षणम्, एतेन हि जीवोऽनन्यसाधारणतया ल इति । इत्थं जीवलक्षणमभिधाय पुद्गलानां लक्षणमाह

'अंधकारः' तिमिरम्, उभयत्रसूत्रत्वात् सुपोलुक्, '

'प्रभा' चन्द्रादिदीधिति. 'छाया ' शैत्यगुणा. ' आत

उष्णप्रकाशः इति शब्द आद्यर्थः, ततश्च सम्बन्ध

समुच्चये, वर्णाश्च नीलादि रसश्च—तिक्तादि गन्धश्च—सुरभ्यादि स्पर्शश्च—शीतादिरेषां द्वन्द्वः, इति शब्देन चाद्यार्थेनैषां ग्रहणेऽपि पुनरुपादानं—सर्वत्रानुयायितात्ख्यापनार्थं, 'पुद्गलानां' स्कन्धादीनां 'तुः' पुनरर्थे लक्षणम् एतैरेव तेषां लक्ष्यत्वात्, आह—पौद्गलिकत्वे शब्दादीनां पुद्गललक्षणत्वमुक्तं तच्च कथम्? उच्यते, शब्दस्तावन्मूर्त्तत्वात् पौद्गलिको मूर्तिभावोऽस्य प्रतिघातविधायित्वादिभ्यः. उक्तं हि—"प्रतिघातविधायित्वाल्लोष्ठवन्मूर्त्तता ध्वनेः। द्वारवातानुपाताच्च धूमवच्च परिस्फुटम्॥१॥" अन्धकारोद्योतप्रभाणां तु पौद्गलिकत्वं चक्षुर्विज्ञानविषयत्वात्, प्रयोगश्चात्र—यत्पौद्गलिकं न भवति तच्चक्षुर्विज्ञानविषयमपि न भवति, यथाऽऽत्मादयः, चक्षुर्विज्ञानविषयाश्चान्धकारादयः, अथालोकाभावोऽन्धकारः, तथा च निरुपाख्यत्वेन तस्याः सत्त्वमुच्यते, न, सतः सर्वथा निरन्वयाभावस्याभावेनाभावरूपत्वेऽपि निरुपाख्यत्वासिद्धेः, तथाहि—घटस्य कपालाख्यपर्यायान्तरोत्पत्तिरेवाभावो न पुनरुच्छेदमात्रम्, एवमलोकस्याप्यन्धकाराख्यपर्यायान्तरोत्पत्तिरेवाभावो न तु तथाविधपरमाणुरूपतयाऽप्यभाव एव, इत्थं चैतत्, परिणामित्वाद्वस्तुनः, परिणामस्य च सत एव वस्तुनः पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरोत्पत्तिरूपत्वात्, उक्तं हि—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः॥१॥" एवं छायाऽऽतपयोरपि पौद्गलिकत्वं वस्तुत्वञ्च भावनीयं, तथा स्पर्शनग्राह्यत्वाच्चानयोः पौद्गलिकत्वं, तथाहि—छायायाः शैत्यमातपस्य चौष्ण्यत्वं प्रतिप्राणि प्रतीतमेवेति, अतश्च यत् केश्चिदुच्यते—शब्दोऽम्बरगुण इत्यादि, तदपास्तं भवति, उक्तञ्च—अणवः सर्वेऽपिद्रव्यात् भेदसमर्थास्तु । छायाऽऽतपस्तमः शब्दभावेन

परिणामिन ॥ १ ॥",, इत्यादि,वर्णादीना च पौद्गलिकत्व सुप्रसिद्धमेवेति सूत्रचतुष्टयार्थ ॥ अनेन द्रव्यलक्षणमुक्त, पर्यायलक्षणमाह—

मूलः—एगत्तं च पुहुत्तं च, सखा संठाणमेव य।

संजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खणं ॥१३॥

टीकाः—एकस्य भावः एकत्वं—भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यदेकोऽय घटादिरिति प्रतीतिहेतु सामान्यपरिणतिरूप, च शब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये, पृथग्भाव पृथक्त्वम्—अयमस्मात्पृथगिति प्रत्ययोपनिबन्धन, 'च' सर्वत्र प्राग्वत्, सख्यानंसंख्या—यत एको द्वौ त्रय इत्यादिका प्रतीतिरुपजायते, संतिष्ठतेऽनेनाकारविशेषेण वस्त्विति सस्थानं—परिमण्डलोऽयमित्यादिबुद्धिनिबन्धनम्, एवेति पूरणे, 'सयोगा' अयमगुल्यो संयोग इत्यादि व्यपदेशहेतव, 'विभागाश्च' अयमितो विभक्त इति बुद्धिहेतवः, उभयत्र सम्बन्धिभेदेन भेदमाश्रित्य बहुवचननिर्देश, चशब्दोऽनुक्तनवपुराणत्वादिपर्यायोपलक्षक, 'पर्यवाणाम्' उक्तनिरुक्तानां, 'तु' पूरणे 'लक्षणम्' असाधारणरूपम्, अयमभिप्राय — य. कश्चिदस्खलित प्रत्यय स सर्व सनिबन्धनो, यथा घटादिप्रत्यय, अस्खलितप्रत्ययाश्चामी एकोऽयमित्यादिप्रत्यया ततोऽवश्यममीषां निबन्धनेन भवितव्य, तच्च न द्रव्यमेव, तस्य सदाऽवस्थितत्वेन प्रतिनियत कालैकत्वादिप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसगात्, ततश्च यदमीषा कालनियमेनोत्पत्ति निबन्धन न तत्पर्यवेभ्यस्तत्तत्परिणतिविशेषरूपेभ्योऽन्यत्, गुणाना तु लक्षणानभिधानं रूपादिरूपाणां तेषामतिप्रतीतत्वात्प्रायो विप्रतिपत्त्यविषयत्वाच्चेति सूत्रार्थ ॥

उत्तराध्ययन सू० मोक्षमार्ग गत्यध्ययन—२८

जैन स्तोत्र रत्नमाला.

(जेनी अंदर नवस्मरण उपरांत
बीजा छ स्तोत्रो छे.)

छपावी प्रसिद्ध करनार
कोठारी कसलचंद नीमजी.



अमदावादमां
राजनगर प्रिन्टींग प्रेसमां छापी.

वीर संवत २४३३ संवत १९६३

मूल्य चार आना.

अनुक्रमणिका.

विषय. पृष्ट.